भारत
संसाधन और प्रादेशिक विकास

भारत
संसाधन और प्रादेशिक विकास

बारहवीं कक्षा के लिए भूगोल की पाठ्यपुस्तक

एम. एच. कुरैशी



राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

सितम्बर 1990 : कार्तिक 1912

पुनर्मुद्रण

अक्तूबर 1991 : आश्विन 1913

PD. 7T – OP

मूल्य रू. 14.00

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित तथा टेक्नोलाजी डिवीजन, यूनाइटेड डाटाबेस (इंडिया) प्रा. लिमिटेड, बहादुर शाह जफ़र मार्ग, नई दिल्ली 110006 द्वारा कंपोज होकर जे. के. ऑफसेट प्रिन्टर्स, 315, जामा मस्जिद, दिल्ली-110006 द्वारा मुद्रित

आमुख

भारत : संसाधन और प्रादेशिक विकास 10 + 2 शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत कक्षा 12 के द्वितीय सत्र के लिए निर्मित भूगोल की पाठ्यपुस्तक है। प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण भूगोल पाठ्यक्रम में हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए किया गया है। इस संबंध में विशेष महत्वपूर्ण बात कुछ केन्द्रिक शिक्षा क्रम क्षेत्रों जैसे **पर्यावरण की सुरक्षा और वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास** का पाठ्यपुस्तकों में समन्वित किया जाना है।

10 + 2 शिक्षा प्रणाली में "+ 2" स्तर कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। 10 वर्षों की सामान्य शिक्षा के बाद विद्यार्थी पहली बार इस स्तर पर ज्ञान की एक शाखा का चयन करते हैं और अपनी रूचि के कुछ विषयों के वास्तविक स्वरूप से परिचित होते हैं। उच्च शिक्षा का प्रवेश द्वार होने के कारण जो विद्यार्थी इस विषय का चयन अपनी शैक्षपिक रूचि को जारी रखने के उद्देश्य से करते हैं, उनके लिए विषय की विस्तृत और गहन जानकारी अपेक्षित है। अन्य विद्यार्थियों के लिए इस स्तर पर प्राप्त भौगोलिक ज्ञान की उपयोगिता उनके कार्य क्षेत्र में होनी चाहिए।

इसी पृष्ठभूमि में भूगोल के पाठ्क्रम का निर्धारण इस स्तर पर सत्र के अनुसार किया गया है। कक्षा ग्यारहवीं के दोनों सत्रों के लिए सामान्य भूगोल का क्रमबद्ध पाठ्यक्रम है। कक्षा बारहवीं के दोनों सत्रों में भारत के भूगोल की शिक्षण योजना है। प्रत्येक सत्र में पर्याप्त क्षेत्रीय एवं प्रयोगात्मक कार्यों का प्रावधान है जिससे वे सैद्धान्तिक अध्ययन को पूरकता प्रदान कर सकें। इसके लिए एक पुस्तक **भूगोल में क्षेत्रीय कार्य और प्रयोगशाला प्रविधियाँ** का निर्माण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में हमारे देश के विविध प्राकृतिक संसाधनों के वितरण प्रारूप, उनके उपयोग एवं प्रादेशिक विकास एवं योजना की संकल्पना की चर्चा की गई है। यह आशा की जाती है कि प्रस्तुत पुस्तक अपने सहचर खंड **भारत : सामान्य भूगोल** जो कक्षा बारहवीं के प्रथम सत्र के लिए है, के साथ विद्यार्थियों को कक्षा ग्यारहवीं के दोनो सत्रों के लिए निर्धारित पुस्तकों **"भूगोल के सिद्धान्त – भाग I"** (भौतिक भूगोल) एवं **"भूगोल के सिद्धान्त – भाग II"** (मानव एवं आर्थिक भूगोल) में चर्चित सिद्धान्तों के समन्वय एवं अनुप्रयोग में सहायक सिद्ध होगी।

इस पुस्तक को अत्यन्त अल्प समय में लिखने के लिए मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के डा. एम. एच. कुरैशी का आभारी हूँ। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद श्री के. पी. कुलश्रेष्ठ और डा. एम. एच. कुरैशी ने किया है। इस पुस्तक के मानचित्र और आरेख श्री ज़ोहैर अनवर, श्री अखिलेश माथुर एवं श्री सतीश मौर्या ने तैयार किए हैं। मैं उन सभी को धन्यवाद देता हूँ।

पुस्तक की कार्ययोजना बनाने पुनर्विलोकन, संपादन तथा उसे प्रकाशन योग्य बनाने का पूर्ण दायित्व निभाने के लिए सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग की डा. सविता सिन्हा का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

पाठ्यक्रम निर्माण और शैक्षणिक सामग्रियों के विकास की प्रक्रियाएँ निरंतर चलती रहती हैं। पुस्तक में सुधार लाने के लिए विद्यार्थियों एवं अध्यापकों से प्राप्त सुझावों के लिए, हम आभारी रहेंगे।

के. गोपालन
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और
प्रशिक्षण परिषद्

विषय-सूची

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो क गांधी

अध्याय 1

भारत के प्राकृतिक संसाधन

भूमि, जल, वनस्पति एवं खनिज आदि के रूप में प्रकृति के उपहारों को सामान्यतः प्राकृतिक संसाधनों की संज्ञा दी जाती है। ये संसाधन किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था की आधारशिला हैं। वास्तव में प्राकृतिक संसाधन एक व्यापक शब्द है। किसी देश का भू-क्षेत्र, उसकी उपजाऊ मृदाएँ, नदियाँ, जलाशय, मत्स्य- क्षेत्र, वनस्पति-आवरण, शैल तथा खनिज, पशु-धन एवं जनसंख्या आदि उसके प्राकृतिक संसाधन हैं। ये देश विशेष की आर्थिक शक्ति और उसमें वास करने वाले लोगों की समृद्धि के आधार हैं। आदि मानव, जीविका के उन प्राकृतिक साधनों पर जीवन व्यतीत करते थे, जो भोज्य पौधों एवं पशुओं के रूप में पादपों को तोड़कर और जानवरों का आखेट करके बिना पकाये खा लिये जाते थे। समाज जितना ही अधिक आदिम होगा, वह उतना ही अधिक अपने सलग्न पर्यावरण पर निर्भर रहेगा। परन्तु मानव और पर्यावरण का सहसंबध स्थिर नहीं है। यह सदा परिवर्तनशील है। यदि पर्यावरण अपार है, तो मानव भी अपने निर्वाह के लिए सतत रूप से नवीनतर अवसरों की खोज में लगा रहता है।

अपने प्रयोगों और अनुभवों द्वारा संचित साधनों, तकनीक और कौशल की मदद से पर्यावरण पर उसकी अन्योन्य क्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। इस प्रक्रम को प्रौद्योगिकी (टिक्नोलॉजी) की संज्ञा दी जा सकती है। वह उत्पादन के साधनों की खोज करने और उनको विकसित करने में सफल रहा है, तथा लम्बे समय तक जीविका के साधनों पर निर्भर नहीं रहा। इस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों की उपयोगिता की मात्रा, किसी समाज द्वारा प्राप्त प्रौद्योगिकी के स्तर पर निर्भर रहती है। बहुत से मानव समुदाय ऐसे थे जिनके पास अपना प्राकृतिक संसाधन-आधार था, किन्तु वे इन संसाधनों का उपयोग करने में असमर्थ थे, क्योंकि वे प्रौद्योगिकी का विकास नहीं कर सके थे। चीन में वर्षों से कोयला, कठोर शैल के रूप में उपलब्ध था। पेंसिलवानिया में सन् 1750 से खनिज तेल के लघु स्रोते देखे गये थे। किन्तु ये प्राकृतिक संसाधन तुरन्त ही आर्थिक संसाधनों का रूप धारण नहीं कर सके थे। वे उपयोगी उसी समय हुए जब उनके आर्थिक शोषण के लिए उचित प्रौद्योगिकी का अन्वेषण हुआ। प्राकृतिक संसाधनों की उपस्थिति से यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि प्रदेश आर्थिक दृष्टि से विकसित है। भारतवर्ष के बहुत से संसाधन-समृद्ध प्रदेश, आज भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार के

प्रदेशों के उदाहरण छोटानागपुर पठार और बस्तर हैं। यहाँ रहने वाले लोगों के पास प्रौद्योगिकी का अभाव है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि संसाधन, प्रौद्योगिक (सांस्कृतिक) विकास के स्तर से घनिष्ट रूप से संबंधित है। इसीलिए यह कहा जाता है कि प्राकृतिक संसाधन की संकल्पना वास्तव में संस्कृति से जुड़ी हुई है।

प्राकृतिक संसाधन को आधार प्रदान करने के द्वारा, प्रकृति आर्थिक विकास की दिशा व्यक्त करती है। जो लोग जलाशयों के निकट रह रहे हैं, वे मत्स्यन का विकास करते हैं। वनों में रहने वाले लकड़ी काटने का कार्य करते हैं। इसी प्रकार नदी-घाटियों में रहने वाले ग्रामवासी वहाँ बहुलता से प्राप्त जल और उपजाऊ मिट्टी के कारण कृषि का विकास करते हैं। परन्तु विकास की परिसीमा इस तथ्य द्वारा निश्चित होती है कि अलग अलग समाजों ने प्रौद्योगिकी के किस स्तर को प्राप्त किया है । संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया और कनाडा की अत्यन्त मशीनीकृत विस्तृत कृषि, दक्षिण-पूर्व एशिया में की जाने वाली गहन जीविका कृषि से पूर्णतया भिन्न है, यद्यपि मानव-क्रिया के रूप में यह कृषि ही है जो उपरोक्त प्रदेशों में की जाती है। भारतवर्ष में आर्थिक क्रियाओं में अपार भिन्नता पाई जाती है, और इसके साथ-साथ आर्थिक विकास के स्तरों में भी बहुत अधिक प्रादेशिक विषमताएँ मिलती हैं।

भारत एक विशाल देश है और उसका 32,87,782 वर्ग किलोमीटर का आकार मात्र ही एक महत्त्वपूर्ण संसाधन है। इसका कारण यह है कि एक विस्तृत क्षेत्र में बड़ी मात्रा में प्राकृतिक संसाधन पाए जाने की संभावना लघु क्षेत्रों की अपेक्षा ज्यादा है। भारतवर्ष में अनेक प्राकृतिक संसाधन पाये जाते हैं। विस्तृत कृष्य भूमि, बहता जल, अन्तर्भौम जलभृत, लंबा वर्धन काल, विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक वनस्पति, खनिज, पशुधन, तथा मानव संसाधन आदि हमारी आर्थिक परिसंपत्ति हैं। भारत के आर्थिक इतिहास की नींव लंबे भूतकाल पर आधारित है। हमारे पूर्वजों की आर्थिक क्रियाओं के अवशिष्ट आज भी असम में स्थानान्तरी कृषि, जम्मू और कश्मीर में गूजर तथा बकरवालों द्वारा किए जाने वाले यायावर पशुचारण, और तटवर्ती प्रदेशों में मत्स्यन के रूप में देखे जाते हैं। प्राचीन काल से कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का मूल आधार रहा है। प्राथमिक तथा द्वितीयक परिक्षेत्रों में हम अपनी देशज प्रौद्योगिकी का विकास करने में समर्थ रहे हैं। हमारे पूर्वजों को वस्त्र, लोहा तथा तांबा संबंधी प्रौद्योगिकी का ज्ञान था।

स्वतंत्र भारत में हम भूमि, जल और खनिज संसाधनों के दोहन में अत्यधिक सफलता प्राप्त कर चुके हैं। पैकेज प्रौद्योगिकी ने हमारे कृषि विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। लगभग सभी अनाजों की उपज-दरों में वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए चावल की उपज जो सन् 1950-51 में 668 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर थी, बढ़कर सन् 1987-88 में 1,473 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हो गई। इसी प्रकार गेहूँ की उपज सन् 1950-51 में 663 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर थी जो बढ़ कर सन् 1987-88 में 1,996 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हो गई। भू-क्षेत्र की प्रति इकाई उपज में इतनी अधिक वृद्धि के बावजूद भी कृषि में श्रम उत्पादकता मन्द बनी रही। इस घटना के मुख्य कारण क्या हैं ? भारत में श्रम-उत्पादकता के ह्रास तथा रहन-सहन के स्तर को निष्प्रभावी बनाने में जनसंख्या-आकार

तथा इसकी तीव्र वृद्धि के योगदान की जाँच कीजिए।

भारत के प्रमुख संसाधन—एक सामान्य सर्वेक्षण

भूमि संसाधन

भारतवर्ष का विशाल एवं विषम आकार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संसाधन है। इस देश में ऊँचे-ऊँचे पर्वत, प्राचीन अनाच्छादित पठार और विस्तृत मैदान हैं। स्थलाकृति में इस विविधता के कारण ही यहाँ विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाएँ की जाती हैं। भू-क्षेत्र का लगभग 43 प्रतिशत भाग, जो मैदान के रूप में है, फसलों की खेती के लिए उपयोग किया जाता है। पर्वतीय क्षेत्र, देश के पृष्ठीय क्षेत्र का लगभग 30 प्रतिशत है। यह प्राकृतिक संसाधनों का भंडार है, और इसके साथ ही ये पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण और अपने भू-दृष्यीय सौन्दर्य के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। पठारी क्षेत्र, देश के कुल क्षेत्रफल का 27 प्रतिशत है, और इसमें वनों और कृष्य स्थलों के अतिरिक्त खनिज संसाधनों के प्रचुर संचय पाये जाते हैं। पर्वतों और पठारों में उपजाऊ नदी घाटियाँ भी हैं, जो मानव अधिवास (संकेन्द्रण) के लिए बड़ी अनुकूल अवस्थितियाँ प्रदान करती हैं।

भारतवर्ष में केवल पर्वतीय प्रदेशों को छोड़ कर, पूरे साल वर्धन काल पाया जाता है। प्राकृतिक वनस्पति और फसलों की वृद्धि के दृष्टिकोण से हमारे देश की भूमि की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। भारतीय कृषि में हमारी प्रधान मजबूरी उष्मा-कारक नहीं बल्कि आर्द्रताकारक है।

भारतीय उपमहाद्वीप पर अधिकांशतः मानसूनी वर्षा होती है, जो प्रकृति में अनियमित और मौसमी है। वर्षा द्वारा जल-आपूर्ति 3-4 महीनों तक अधिक रहती है। केवल जम्मू और कश्मीर तथा तमिलनाडु राज्यों को छोड़ कर शेष भाग में ये महीने गरमी के हैं। इस समय उष्मा अधिक होती है, जिसके कारण वाष्पन द्वारा नमी का ह्रास भी बहुत अधिक होता है। इसके अतिरिक्त वर्षा की अधिक तीव्रता के कारण जल-वाह बहुत ज्यादा होता है और नदियों में बाढ़ आ जाती है। वर्षा के असमान वितरण के कारण भी पौध-वृद्धि के लिए समस्या उत्पन्न हो जाती है। अपने देश में लद्दाख, राजस्थान, कच्छ, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कुछ भाग और कर्नाटक पठार को सम्मिलित करते हुए एक विशाल क्षेत्र ऐसा भी है जहाँ वर्षा अपर्याप्त मात्रा में होती है और 100 से 500 मिलीमीटर के बीच घटती-बढ़ती रहती है। देश के लगभग दो-तिहाई क्षेत्र पर 750 मिलीमीटर से अधिक वर्षा अंकित की जाती है। पश्चिमी विक्षोभों के कारण भी कुछ वर्षा शीतकाल के दौरान होती है। परन्तु यह सामान्य रूप से हिमालय तथा उत्तर भारतीय मैदान के उत्तर-पश्चिमी भाग तक ही सीमित रहती है।

इस प्रकार, वर्षा के असमान वितरण के कारण हमारे लिए यह अनिवार्य हो गया है कि हम अपने देश की भूमि का उत्तम उपयोग करने के लिए जल-पूर्ति के कृत्रिम साधनों की व्यवस्था करें। कुछ भागों में वर्षा आवश्यकता से बहुत कम होती है तो कुछ भागों में आवश्यकता से अधिक। इसी प्रकार वर्षा उस समय बहुत अधिक हो सकती है जब उसकी आवश्यकता न हो पर जब उसकी आवश्यकता हो तो वह कम हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्षा की स्थानिक तथा कालिक विभिन्नताओं को देखते हुए अच्छी खेती के लिए

निश्चित जलापूर्ति का एकमात्र स्त्रोत सिंचाई ही है। हम भाग्यशाली हैं कि हमारे सदानीरा नदियों में जल का पृष्ठीय प्रवाह बहुत अधिक बना रहता है। इन नदियों पर बाँध बना कर सिंचाई की अवसंरचना तैयार की गई है, जिसके कारण जलाशयों से नियमित आर्द्रता-पूर्ति होती रहती है। शस्यन की गहनता अधिकांशतः सिंचाई जल पर निर्भर है। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में न केवल सिंचाई का स्तर उच्चतर है बल्कि शस्यन की गहनता भी अधिक है। भूमि के लिए उत्पन्न खतरों जैसे, कुछ प्रदेशों में अतिसिंचाई के कारण जलाक्रांति की समस्या और उष्ण तथा शुष्क भागों में गहन जल-उपयोग के कारण लवणता अधिक होने की समस्या से सावधान रहना चाहिए। इस प्रकार यह आवश्यक है कि हम भूमि की गुणवत्ता को नष्ट होने से बचाएँ।

मृदा संसाधन

पौध-वृद्धि के लिए मृदा एक महत्त्वपूर्ण कारक है। उपजाऊ मृदा के फलस्वरूप भूमि का मूल्य बढ़ता है, यह एक नवीकरणीय जैव संसाधन है, जिसकी पुनः पूर्ति कृत्रिम साधनों जैसे खाद तथा उर्वरक डाल कर की जा सकती है। मृदा रचना के प्रक्रम को मृदाजनन की संज्ञा दी जाती है। इस पर सबसे अधिक प्रभाव जनक-शैलों, जलवायु और जीव-रूपों का पड़ता है। समय वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण कारक है जो मृदा को परिपक्वता प्रदान करता है। भारत में भू-आकृति की विविधता, मृदा की विभिन्नताओं में झलकती है।

भारत की मृदाओं को छह वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। मुख्य वर्ग इस प्रकार हैं, जलोढ़, पीट, लाल, काली, मरूस्थल और पर्वत मृदाएँ। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान ने वन, लवणीय और क्षारीय मृदाओं को अलग-अलग वर्गों में रखा है। जलोढ़ मृदा सबसे अधिक विस्तृत क्षेत्र में पाई जाती है। यह देश के कुल क्षेत्रफल के लगभग 43.7 प्रतिशत भाग को ढँके हुए है। ये मृदाएँ नदियों और समुद्रों के जलीय प्रक्रिया द्वारा निक्षेपित हुई हैं। इसीलिए हमें नदी-तटीय और समुद्र तटीय दोनों ही प्रकार के जलोढ़क मिलते हैं। उत्तरी मैदानों, प्रायद्वीपीय भारत की नदी-घाटियों, नदियों के डेल्टाओं और समुद्र तटों पर यह मृदा प्रधान रूप से पाई जाती है। पुराने जलोढ़क जो भांगर कहलाते हैं जलप्लावित नहीं होते, परन्तु नये जलोढ़क जो खादर कहलाते हैं, नदियों के बाढ़ मैदानों पर निक्षेपित होते रहते हैं।

काली मृदा की व्युत्पत्ति वास्तव में दक्कन ट्रैप से हुई है। ये विस्तृत रूप से महाराष्ट्र, पश्चिमी मध्यप्रदेश, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश के कुछ भागों, कर्नाटक और तमिलनाडु में पाई जाती हैं। ये अति सूक्ष्म कणों वाली मृदाएँ हैं, और कैलशियम तथा मैग्नेशियम कार्बोनेट में समृद्ध है। परन्तु इनमें जैव पदार्थ, फासफोरस तथा नाइट्रोजन का अभाव रहता है। जब कभी ये शुष्क या नम होती है, तो इन पर कार्य करना कठिन होता है, क्योंकि नम होने पर ये चिपचिपी हो जाती है, और शुष्क होने पर इनमें दरारें पड़ जाती हैं।

लाल और पीली मृदाएँ अधिकांशतः निजलोढ़ है। परन्तु कुछ सीमित क्षेत्रों में नदी-क्रिया के कारण निक्षेपित हुई है। इनका रंग वास्तव में जनक-शैलों से निश्चित होता है। लाल मृदाएँ और उनके अनेक परिवर्तित रूप तमिलनाडु, कर्नाटक, गोआ, दक्षिण-पूर्वी महाराष्ट्र, पूर्वी आन्ध्र

प्रदेश, उड़ीसा और छोटानागपुर के विस्तृत क्षेत्रों को ढँके हुए है। इनके बर्हिक्षेत्र पश्चिम बंगाल के वीरभूम जिले तथा उत्तर प्रदेश के झांसी, मिर्जापुर और हमीरपुर जिले तक फैले हुए हैं। इन मृदाओं में ह्यूमस की मात्रा कम होती है, और पादप पोषक तो नहीं के बराबर होते हैं।

पूर्वी और दक्षिणी भारत में जहाँ आंतरायिक रूप से नम जलवायु पाई जाती है, और बीच-बीच में शुष्क जलवायवी दशायें मिलती हैं, लैटेराइट मृदाएँ विकसित हुई हैं। इस मृदा में एल्युमिनियम और लोहे के जलयोजित आक्साइड होते हैं। इस प्रकार की मृदाएँ केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक के पश्चिमी क्षेत्रों, महाराष्ट्र के कुछ भागों, मध्य प्रदेश, मेघालय तथा असम में विस्तृत रूप से पाई जाती हैं।

बलुई मृदा राजस्थान के अधिकांश भागों, हरियाणा और पंजाब में विस्तृत रूप से पाई जाती हैं। वहाँ पाई जाने वाली शुष्क दशाओं के कारण बालू स्वस्थान पर ही विकसित हुई हैं, किन्तु कुछ बालू वायु के द्वारा भी निक्षेपित हुई है। इन मृदाओं में ह्यूमस का अभाव रहता है परन्तु घुलनशील लवणों की अधिकता होती है। यदि किसान इसमें अतिसिंचाई करते हैं, तब इसमें क्षारीयता उत्पन्न हो सकती है।

पीट मृदाओं का विकास आर्द्र दशाओं के अन्तर्गत, सघन वनस्पति वाले क्षेत्रों में होता है। इसीलिए इनमें जैव पदार्थों की बहुत बड़ी मात्रा संचित हो जाती है। इस प्रकार की मृदाएँ केरल, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा और तमिलनाडु के तटवर्तीय क्षेत्रों तक सीमित हैं।

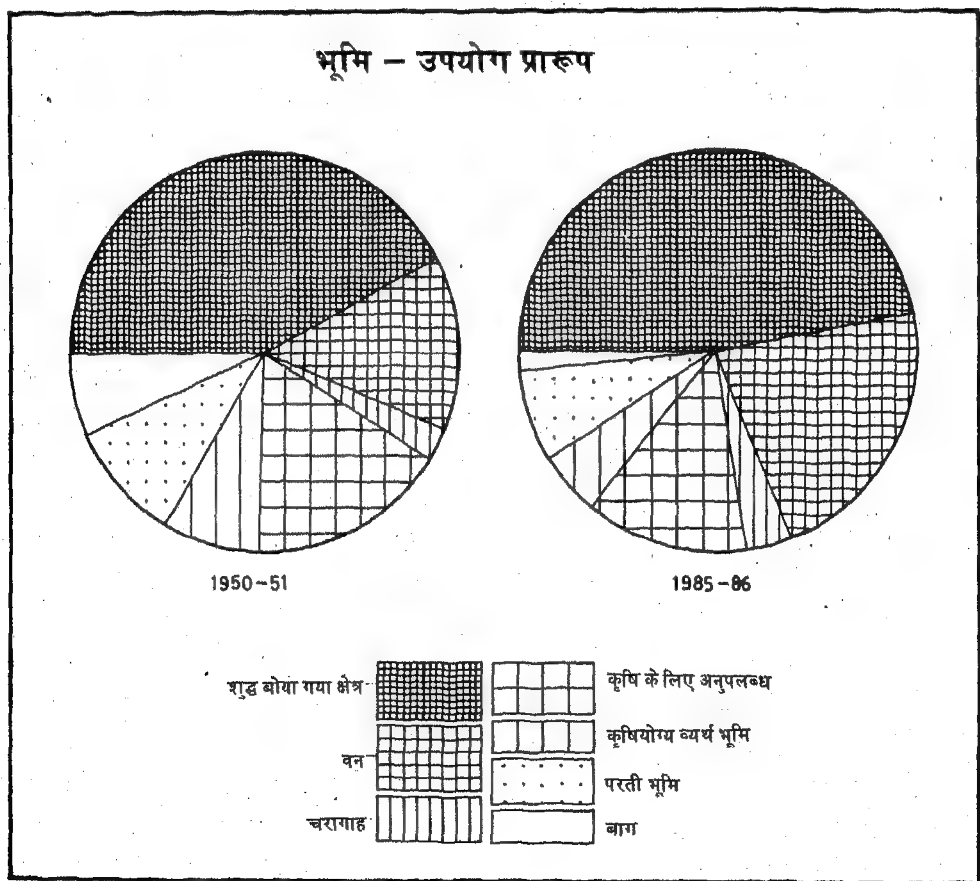
वे मृदाएँ जिनमें पादप पोषकों की पूर्ति करने की अत्यधिक क्षमता होती है, उर्वर मृदाएँ कहलाती हैं। मूलतः यह उर्वरता एक ऐसा संसाधन है जो फसलें उगाने के लिए उपयोग में लाया जाता है। इन मृदाओं में प्रकृति द्वारा प्रदत्त उर्वरता तो होती ही है किन्तु इसके साथ ही साथ इन्हें कृत्रिम रूप से भी उर्वर बनाया जा सकता है। जब कभी भी प्रकृति द्वारा प्रदान की गई उर्वरता घट जाती है तो इनमें खाद और उर्वरकों को मिलाकर पुनः उर्वर बनाना आवश्यक हो जाता है। दोषपूर्ण प्रबंध और कृषि-पद्धतियों के कारण मृदा की उर्वरता समाप्त हो जाती है। अपरदन के संकटों से भी मृदाएँ अनुर्वर हो जाया करती हैं। तरंगित क्षेत्रों में जुताई की प्रचलित पद्धतियाँ अपरदन की दर को बढ़ाती हैं। इतना ही नहीं, वनोन्मूलन और अतिचारण के परिणामस्वरूप भी मृदाओं का अपरदन बहुत अधिक बढ़ गया है। वनस्पति के नष्ट हो जाने से मरूस्थलीय दशाएँ तेजी से उत्पन्न हो रही हैं। यह अनुमान लगाया जाता है कि भारतवर्ष में लगभग एक करोड़ हेक्टेयर भूमि बीहड़ और अवनालिका-अपरदन से प्रभावित है। अतिसिंचाई के कारण लवणों के बिखराव से भूमि अनुर्वर हो चुकी है। पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश में लगभग 60 लाख हेक्टेयर भूमि क्षारीयता और लवणता का शिकार है।

मृदाओं को उत्पादी बनाये रखने के लिए उनका संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है। यह उसी समय सम्भव है जब कि विभिन्न प्रदेशों में कृषि-पद्धतियाँ उन्नत हों। उच्चतर ढालों पर भूमि की जुताई को रोकना पड़ेगा, और अपरदन-ग्राही ढालों पर समोच्च रेखीय जुताई, मृदा की गहराई को बनाये रखने में काफी सहायक सिद्ध हो सकती है। रक्षक-मेखला के रोपण और ठूंठीदार पलवार खेती से मरूस्थलीय प्रदेशों में मृदाओं के संरक्षण में

मदद मिलती है। बीहड़ों और अवनालिकाओं की रोकथाम मृदा के अभिशीर्ष अपरदन को रोकने के लिए किया जाना चाहिए। पहाड़ी, मरूस्थलीय और पठारी प्रदेशों में चरागाहों पर पशुधन की संख्या को नियंत्रित रखना चाहिए, जिससे वहाँ अतिचारण न हो सके। अतिचारण के ऐसे क्षेत्र जम्मू और कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान और कर्नाटक में पाये जाते हैं। फार्मयार्ड खाद, हरी खाद और रासायनिक उर्वरक से, मृदा-उर्वरता को बनाये रखने में काफी मदद मिलती है।

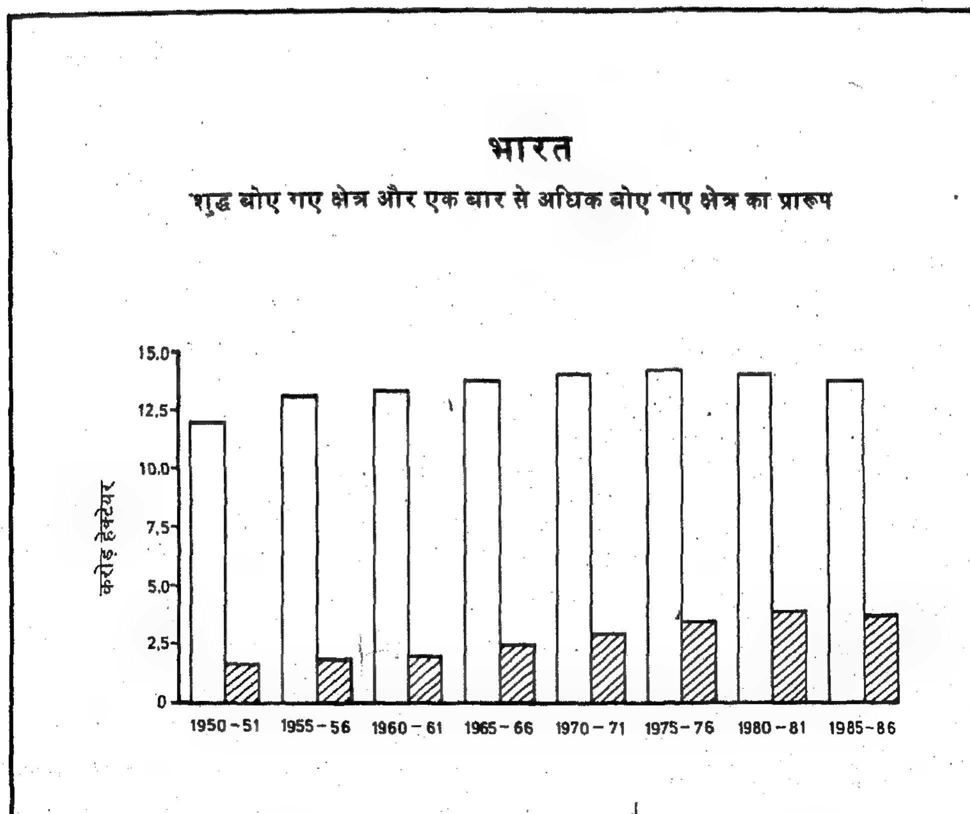
भूमि उपयोग का प्रारूप

सन् 1985-86 के आँकड़ों के अनुसार, गाँव के कागजों के आधार पर कुल ज्ञापित (व्यक्त) क्षेत्रफल 3046 लाख हेक्टेयर है। इसमें से 1,411 लाख हेक्टेयर या 46.32 प्रतिशत शुद्ध बोया हुआ



चित्र 1.1 भूमि-उपयोग का प्रारूप

क्षेत्र है। चित्र 1.1 में 1950-51 और 1985-86 में भारत के भूमि-उपयोग प्रारूप का एक तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत है। इन 35 वर्षों में शुद्ध बोये हुए क्षेत्र में लगभग 20.17 प्रतिशत की वृद्धि देखी गई है। यह वास्तव में वार्षिक वृद्धि-दर का 0.58 प्रतिशत है। इस बात में कदापि सन्देह नहीं कि इन वर्षों में ज्ञापित क्षेत्र में भी वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 में वनों से ढँका हुआ क्षेत्र, ज्ञापित क्षेत्रफल का 14.2 प्रतिशत था। यह सन् 1985-86 में बढ़ कर 21.90 प्रतिशत हो गया। परती भूमि के क्षेत्रफल में कमी हुई है। सन् 1950-51 की अवधि में यह 9.9 प्रतिशत था, जब कि सन् 1985-86 में यह ज्ञापित क्षेत्रफल का 8.17 प्रतिशत रह गया था। इस प्रकार शुद्ध बोया हुआ क्षेत्र और परती भूमि मिलकर ज्ञापित क्षेत्रफल का 54.5 प्रतिशत हो जाते हैं। यह कृष्य भूमि के विस्तार को दर्शाता है। संवर्धनीय व्यर्थ भूमि के क्षेत्र में ह्रास हुआ है। यह सन् 1950-51 में 8.1



चित्र 1.2 भारत-शुद्ध बोए गए क्षेत्र और एक बार से अधिक बोए गए क्षेत्र का प्रारूप

प्रतिशत था किन्तु सन् 1985-86 में केवल 5.1 प्रतिशत रह गया। वृक्ष-फसल के अंतर्गत क्षेत्र में भी, 1950-51 की तुलना में सन् 1985-86 में कमी पाई गई है।

धरती पर भूमि-उपयोग प्रारूप, में बहुत विभिन्नता है। पंजाब और हरियाणा में शुद्ध बोया हुआ क्षेत्र, अपने ज्ञापित क्षेत्रफल का क्रमशः 84 और 82 प्रतिशत हैं। किन्तु मिज़ोरम में यह केवल 3.1 प्रतिशत, मणिपुर में 6.3 प्रतिशत और मेघालय में 8.6 प्रतिशत है। उत्तरी भारत के मैदान में जो राज्य आते हैं वहाँ शस्य-गहनता उच्चतर अंकित की गई है। शस्य-गहनता को निम्नलिखित फार्मूले की मदद से समझा जा सकता है:

$$\text{शस्य-गहनता} = \frac{\text{कुल बोया क्षेत्र}}{\text{शुद्ध बोया क्षेत्र}} \times 100$$

सन् 1983-84 में उच्चतम शस्य-गहनता पंजाब (166 प्रतिशत) अंकित की गई है। इसके बाद हरियाणा (158 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (147 प्रतिशत) और उत्तर प्रदेश (145 प्रतिशत) का नम्बर आता है। उच्चतर फसल-गहनता, वास्तव में कृषि के उच्चतर तीव्रीकरण को प्रदर्शित करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि शुद्ध बोये हुए क्षेत्र का उच्चतर अनुपात उसी कृषि-वर्ष की अवधि में एक बार से अधिक बोया जाता है।

देश का शस्य-प्रारूप खाद्‌यान्न की प्रधानता प्रदर्शित करता है। अन्य (फसलों) की तुलना में, खाद्‌यान्न फसलें कुल बोए गए क्षेत्रफल के एक बहुत बड़े भाग को घेरे हुए हैं। फिर भी इसमें थोड़ी कमी हुई है। सन् 1950-51 में खाद्‌यान्न का हिस्सा 76.7 प्रतिशत था, जो सन् 1984-85 में कुल बोए गए क्षेत्रफल का 72.0 प्रतिशत रह गया।

खाद्‌यान्न के उत्पादन में यकायक जो वृद्धि हुई है वह सिंचित क्षेत्र के विस्तार के परिणामस्वरूप हुई है। इसीलिए यह शुद्ध बोये हुए क्षेत्र का विस्तार नहीं है, जो उच्चतर कृषि-उत्पादन के लिए उत्तरदायी है। यह वृद्धि वास्तव में प्रति इकाई क्षेत्र से प्राप्त उत्पादन में वृद्धि हो जाने से हुई है। सिंचाई के अन्तर्गत शुद्ध क्षेत्रफल सन् 1950-51 में 210 लाख हेक्टेयर था, जो बढ़कर सन् 1985-86 में 418 लाख हेक्टेयर हो गया। हमारे देश में शुद्ध बोये हुए क्षेत्रफल का लगभग 30 प्रतिशत भाग सिंचित है। कृष्य भूमि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव के कारण यह आवश्यक हो जायेगा कि सिंचाई के पर्याप्त निवेश, अधिक उत्पादन करने वाली बीजों की किस्मों और उर्वरकों के गहन उपयोग की सहायता से कृषि के तीव्रीकरण का एक उच्चतम स्तर प्राप्त किया जाए।

जल संसाधन

जल एक बड़ा महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय संसाधन है। यह कृषि-उत्पादन को बढ़ाने के लिए बहुत ही आवश्यक है। घरेलू तथा औद्योगिक उपयोग के लिए इस की माँग भी बहुत अधिक है। सस्ती जल विद्‌युत शक्ति उत्पन्न करने के लिए यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण माध्यम है। जल कीमती और एक दुर्लभ संसाधन है, जो अभाज्य है, और इसीलिए सम्पूर्ण बेसिन में इसका उपयोग नियोजित ढंग से करना आवश्यक होता है। जल, एक संसाधन के रूप में, स्थान और समय के अनुरूप समानरूप से वितरित

नहीं है। साल में किसी समय यह बहुत अधिक उपलब्ध होता है, और कभी-कभी दुर्लभ हो जाता है। देश के कुछ क्षेत्रों में यह बहुत अधिक पाया जाता है, किन्तु कुछ प्रदेशों में बहुत मुश्किल से उपलब्ध होता है। किसी-किसी प्रदेश में यह विकास के लिए उत्तरदायी है, किन्तु कुछ क्षेत्रों में इसके कारण विनाश भी हो जाता है। जल का महत्त्व संसाधन के रूप में देखते हुए राष्ट्रीय जल संसाधन परिषद् ने, 9 सितम्बर 1987 को एक राष्ट्रीय जल नीति अपनाई।

भारतवर्ष में वर्षा, पौधों और पृष्ठीय वाह के लिए आर्द्रता-पूर्ति का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्रोत है। भारत के जल संसाधनों का एक वृहत अनुपात उन प्रदेशों में अवस्थित है जो 100 से. मी. के माध्य वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्र में आता है। अन्तर्भौम जलभृतों के पुनः भरण के लिए भी वर्षा एक प्रमुख साधन है। बहुत कम वर्षा वाले प्रदेशों में ये अन्तर्भौम जलभृत सामान्यतौर पर खारे होते हैं। उदाहरण के लिए पश्चिमी राजस्थान में बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ कुओं से मिलने वाला जल बहुत ही खारा है। इसका उपयोग सिंचाई के लिए भी नहीं किया जा सकता।

जल का अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत पृष्ठीय प्रवाह जैसे नदियों, के रूप में मिलता है। इसके अतिरिक्त यह झीलों, तालाबों और जलाशयों में भी मिलता है। नदियों और नदी-घाटियों ने हमेशा से मानव-अधिवासों को अपनी ओर आकर्षित किया हैं। नदियों में जल वर्षा से और पिघलती हुई बर्फ से प्राप्त होता रहता है। इस जल का सही उपयोग नदियों पर बाँध बना कर किया जाता है, इसीलिए देश की स्वतन्त्रता के बाद से नदियों पर अनेक बहुउद्देश्यीय योजनाओं का कार्य प्रारम्भ किया गया है। जल का सबसे बड़ा दावेदार कृषि है, क्योंकि सिंचाई द्वारा जल की निश्चित पूर्ति से वर्षा पर निर्भरता घटती है जो अत्यधिक परिवर्तनशील एवं अविश्वसनीय है। देश के उन भागों में जहाँ वर्षा बहुत ही कम होती है, जैसे पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात, पश्चिमी मध्य प्रदेश, पूर्वी महाराष्ट्र तथा आंध्र प्रदेश और कर्नाटक पठार के तेलंगाना और रायलसीमा प्रदेश, वहाँ सिंचाई की बहुत ही अधिक आवश्यकता है।

जल की उपलब्धता को मापने की रूढ़ इकाई हेक्टेयर मीटर या घन मीटर है। यदि एक मीटर समतल भूमि पर, एक मीटर की गहराई तक जल को स्थिर रखा जाये, तो उस सम्पूर्ण जल का कुल आयतन एक घन मीटर होगा। ठीक इसी प्रकार से एक हेक्टेयर समतल भूमि पर, एक मीटर की गहराई तक यदि जल को स्थिर रखा जाये, तो जल का कुल आयतन एक हेक्टेयर मीटर होगा। भारतवर्ष में नदियों के सामान्य प्रवाह के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि लगभग 16.7 करोड़ हेक्टेयर मीटर के जल-संसाधन देश में उपलब्ध है। इसमें से करीब 6.6 करोड़ हेक्टेयर मीटर का उपयोग सिंचाई के लिए किया जा सकता है। स्वतन्त्र भारत में सबसे अधिक बल इस बात पर दिया गया कि नदी-जल की संचय-क्षमता को विभिन्न नदी घाटी परियोजनाओं के द्वारा, बहुत अधिक बढ़ाया जाये। सन् 1947 में विद्यमान जलाशयों की सफल संचय क्षमता लगभग 1,40,000 लाख घन मीटर थी, किन्तु परियोजनाओं के पूर्ण हो जाने पर कुल संचय क्षमता 19,00,000 लाख घन मीटर हो गई। यह भारत में पृष्ठीय जल- संसाधनों की उपयोग में लाई जा सकने वाली (उपयोज्य) मात्रा का लगभग

27 प्रतिशत होगा। हमारा देश, सम्पूर्ण उपयोज्य जल संसाधनों का उपयोग करने में असमर्थ क्यों हैं ?

जल का एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत अन्तर्भौम जल है जो बहुव्यापी रूप से उपलब्ध हैं। यह जल कुओं, नलकूपों और जल उत्थापन की अन्य प्रयुक्तियों से उपलब्ध होता रहता है। यह अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष में लगभग 33,30,000 लाख घन मीटर अन्तर्भौम जल उपलब्ध है। इसमें से लगभग 90 प्रतिशत ऐसा है, जो उत्तर भारत के मैदानों की असंपीड़ित शैल रचनाओं से सम्बद्ध है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि जहाँ तक अंतर्भौम जल संसाधनों का प्रश्न है, प्रायद्वीपीय भाग की स्थिति ठीक नहीं है।

सन् 1951 से, विभिन्न योजना-अवधियों के अन्तर्गत, सिंचाई सुविधाओं को विकसित करके कृषि कार्यों के लिए, जल संसाधनों के उपयोग की दिशा में, एक सम्मिलित प्रयास किया गया है। कुल सिंचाई विभव 1951 के पहले 226 लाख हेक्टेयर था, जो सन् 1984-85 तक बढ़कर 675 लाख हेक्टेयर हो गया। इस प्रकार लगभग 200 प्रतिशत की वृद्धि अंकित की गई। यह प्रयत्न किया जा रहा है कि सन् 2010 के अंत तक 1130 लाख हेक्टेयरों की सिंचाई विभव की रचना कर ली जाए। देश के सन् 1985-86 के आँकड़ों के अनुसार शुद्ध बोये हुए क्षेत्र का केवल 29.62 प्रतिशत सिंचित था। हमारे देश में केवल तीन प्रमुख सिंचाई के साधन हैं जैसे—नहरें, तालाब और कुएँ (नलकूपों को शामिल करते हुए)। शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल के 38 प्रतिशत भाग की सिंचाई नहरों द्वारा होती है, जब कि शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल के 48.3 प्रतिशत भाग की सिंचाई कुओं और नलकूपों द्वारा होती है। तालाबों द्वारा, शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल का केवल 7.24 प्रतिशत भाग ही सिंचित हो पाता है, क्योंकि उनकी क्षमता सीमित होती है। हमारे देश में कुएँ सिंचाई का एक अत्यन्त प्रमुख साधन है।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि में केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रायोजित एक प्रोग्राम जिसे कमांड एरिया डेवेलपमेंट प्रोग्राम (सी. ए. डी.) कहते हैं, का श्रीगणेश किया गया इसका उद्देश्य सिंचाई विभव की तीव्र एवं निश्चित उपलब्धि थी। हमारे देश के अन्दर सिंचाई के विस्तार और तीव्रता में एक बृहत् स्थानिक विभिन्नता पाई जाती है। पंजाब, हरियाणा पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के डेल्टा क्षेत्रों में शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल और शुद्ध बोये हुए क्षेत्रफल के मध्य अनुपात 60 प्रतिशत से अधिक था। कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं, जैसे—राजस्थान, मध्य प्रदेश, मराठवाड़ा, विदर्भ, रायलसीमा तथा कर्नाटक, जहाँ यह अनुपात बहुत ही कम पाया जाता है। जम्मू और कश्मीर का लद्दाख क्षेत्र एक शीत मरूस्थल है, जहाँ जल का अभाव बहुत अधिक है।

ग्रामीण और नगरीय जनसंख्या के लिए पीने के जल की व्यवस्था, जल-संसाधनों के उपयोग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रारूप है। त्वरित ग्राम जल-पूर्ति प्रोग्राम (ए.आर.डब्लू.एस.पी.) तथा पीने के जल के लिए राष्ट्रीय मिशन (एन.एम.डी.डब्लू.) नामक दो योजनाएँ बनाई गई हैं जिनका उद्देश्य भारत के सभी गाँवों में पीने योग्य जल की पूर्ति करना है।

जल संसाधनों के संरक्षण की बहुत ही अधिक आवश्यकता है। अतः इस दिशा में मुख्य काम यह है कि हम जलवाह और वाष्पन-क्षति को रोकें।

अति सिंचाई से भी मृदा का विनाश होता है। लवणता तथा क्षारीयता वास्तव में जल के दुरूपयोग के परिणाम हैं। स्प्रिंक्लर और ड्रिप सिंचाई, फसलों को जल प्रदान करने के संबंध में अधिक उत्तम तकनीक साबित हो सकती है। मानव बस्तियों और औद्योगिक संस्थानों से जो गंदे पदार्थ प्राप्त होते हैं, वे जलाशयों के लिए प्रमुख प्रदूषकों की रचना करते हैं। जल के उपयोग की उचित व्यवस्था के लिए उसका पुनर्चक्रण आवश्यक है। देश के कुल क्षेत्रफल के लगभग 1/8वें क्षेत्र में, लोगों के जान और माल की क्षति बाढ़ द्वारा होती है। इसे 'बाढ़ग्राही क्षेत्र' घोषित कर दिया गया है। जल उपयोग की योजना के लिए बेसिन को एक इकाई मान लेना चाहिए। अधिक जल चाहने वाली फसलों को शुष्क क्षेत्रों में नहीं उगाना चाहिए। ऐसा करने से उन्हें जलाक्रान्ति और लवणन से बचाया जा सकता है। स्थानीय दशाओं के आधार पर शुष्क भूमि खेती की प्रणालियों को प्रयोग में लाना चाहिये। प्रयोग के लिए सन् 1986-87 से, 'नेशनल वाटर शेड डेवलपमेंट प्रोग्राम फार रेनफेड एग्रीकल्चर', प्रारम्भ किया गया है।

वन संसाधन

वन वास्तव में नवीकरण योग्य संसाधन है, और ये उत्पादी तथा संरक्षी दोनों प्रकार के कार्य करते हैं। इनसे औद्योगिक काष्ठ, लकड़ी, ईंधन की लकड़ी, चारा तथा अन्य ऐसे लघु उत्पाद प्राप्त होते हैं, जिनका आर्थिक महत्त्व बहुत अधिक है। वन संरक्षी कार्य भी करते हैं, ये मृदा अपरदन को कम करते हैं, जल के प्रवाह को नियंत्रित करते हैं, बाढ़ को नियंत्रित करते हैं, और जीवजात एवं वनस्पतिजात के आनुवांशिक संचय को समृद्ध बनाते हैं। पर्यावरण के गुण को सुधारने के लिए वनों का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। राष्ट्रीय वन नीति, 1988 ने जीवन व्यापन तंत्र को बनाये रखने में, वनों के योगदान पर सही बल दिया है। वनरोपण उद्देश्यों में से एक यह भी है कि '... पर्यावरणीय स्थिरता तथा वायुमंडलीय साम्यावस्था को शामिल करते हुए पारिस्थितिकीय संतुलन को बनाए रखने का निश्चित प्रयास हो, क्योंकि ये सब समस्त जीवरूपों—मानव, पशु और पौधों के निर्वाह के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ की प्राप्ति इस प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति के बाद ही होनी चाहिए।'

हमारे देश का 747 लाख हेक्टेयर क्षेत्र वन के लिए अधिसूचित है, परन्तु विभिन्न स्रोतों से प्राप्त वन संबंधी आंकड़ों में कोई तालमेल नहीं हैं। इस अधिसूचित वन-क्षेत्र में से लगभग 51 प्रतिशत आरक्षित, 29 प्रतिशत संरक्षित, तथा 12 प्रतिशत अवर्गीकृत वन हैं। इस क्षेत्र में से लगभग 7 प्रतिशत ऐसा है, जिसको अन्य प्रकार के वनों में रखा गया है। सन् 1985-86 के आँकड़ों के अनुसार देश के ज्ञापित क्षेत्र का लगभग 22 प्रतिशत वनों के अन्तर्गत था। विभिन्न नीति अभिलेखों में घोषित उद्देश्य यह है कि 33 प्रतिशत वनावरण निश्चित रूप से प्राप्त किया जाये। यह स्पष्ट है कि इसमें से 60 प्रतिशत पहाड़ी क्षेत्रों में और लगभग 20 प्रतिशत मैदानी क्षेत्रों में रखा जाना चाहिए। चित्र 1.1 में दिखाए गए भूमि उपयोग के आरेख से यह स्पष्ट होता है कि वनों के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 में यह 14.2 प्रतिशत था जो सन् 1985-86 में बढ़कर 21.9 प्रतिशत हो गया।

राज्य के वन-विभागों का दावा है कि देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 23 प्रतिशत वनों से ढँका हुआ है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि हमारे पास 7.5 करोड़ हेक्टेयर वन क्षेत्र है। परन्तु राष्ट्रीय सुदूर संवेदन एजेंसी के अनुसार सन् 1972-75 के मानचित्रण चक्र की अवधि में 5.5 करोड़ हेक्टेयर का क्षेत्रफल ऐसा था जो वनों से ढँका हुआ था। यह सन् 1980-82 के मानचित्रण-चक्र की अवधि में घटकर 4.6 करोड़ हेक्टेयर रह गया था।

भारतवर्ष के अक्षांशीय विस्तार ने दक्षिण से उत्तर और पश्चिम से पूर्व, वनस्पति प्रकार में बहुत अधिक विभिन्नता दी है। यहाँ पर्ण-आवरण में भी अत्यधिक प्रादेशिक विभिन्नता पाई जाती है। इस प्रकार वन के अंतर्गत आनेवाले क्षेत्र का कोई विशेष अर्थ नहीं है क्योंकि राजस्थान के एक हेक्टेयर वन-क्षेत्र की तुलना असम, केरल या कश्मीर के एक हेक्टेयर वन-क्षेत्र से नहीं की जा सकती है। पश्चिमी घाट के पश्चिमी भागों में वर्षा अधिक होती है, इसलिए वहाँ सदाबहार वन पाये जाते हैं। ये वन अति उपयोगिता का शिकार भी हुए हैं। केरल और असम में उष्ण कटिबंधीय आर्द्र-सदाबहार वन पाये जाते हैं। मध्यवर्तीय भारत के शुष्क भागों— गुजरात और राजस्थान में जो वनस्पति-आवरण पाया जाता है उसमें उष्ण कटिबंधीय पतझड़ वाले वृक्षों से लेकर कंटीली-झाड़ियाँ पाई जाती हैं। हिमालय क्षेत्र में जो वनस्पति पाई जाती है, उसमें तुंगतीय परिवर्तन पाए जाते हैं। यहाँ घाटी-तल पर चौड़ी पत्ती वाले पर्णपाती वृक्ष मिलते हैं, और उच्चतर ढालों की ओर शंकुधारी वनों का विस्तार है। हमारे देश में सामान्यतः घना वनावरण या तो अगम्य क्षेत्रों या कम घनी जनसंख्या वाले क्षेत्रों तक सीमित है। मानसून वन जिसमें प्रधानतः उष्ण-कटिबंधीय पर्णपाती वन मिलते हैं, का विस्तार 100 से.मी. और 200 से. मी. के मध्य पाये जाने वाले वर्षा-क्षेत्र में है। इनमें पाए जाने वाले वृक्षों की कुछ किस्में आर्थिक रूप से बहुत मूल्यवान हैं। पंजाब से पश्चिम बंगाल तक विस्तृत उत्तर भारत के मैदान में वन-आवरण नहीं पाया जाता, क्योंकि यहाँ भूमि पर जनसंख्या का अधिक दबाव है, और जोती हुई भूमि का विस्तार भी बहुत अधिक है। शंकुधारी वृक्ष जैसे देवदार, पाईन तथा फर मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, और जम्मू व कश्मीर में अधिक ऊँचाई के क्षेत्रों में पाए जाते हैं। चौड़ी पत्ती वाले साल और सागवान के वृक्षों से हमें बहुमूल्य लकड़ियाँ मिलती हैं। इस प्रकार की किस्में हिमालय और असम के तराई क्षेत्रों में उगती हैं। कर्नाटक राज्य में चन्दन की लकड़ी के वन हैं। तटवर्तीय क्षेत्रों, विशेषतया डेल्टाओं के आसपास मैंग्रोव वन बहुतायत से मिलते हैं। सुन्दरवन सुन्दरी नामक वृक्षों के लिए बहुत प्रसिद्ध है।

भूमि के विभिन्न उपयोगों की प्रतियोगिता को ध्यान में रखते हुए वनों का संरक्षण पारिस्थितिकीय सुरक्षा, लोगों की ईंधन, पशु चारा और लकड़ी की जरूरतों एवं वनों पर आधारित ग्रामीण लघु और बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थ की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बहुत ही आवश्यक हैं। वन-विभागों के वन-रोपण कार्यक्रमों के अतिरिक्त सामाजिक वानिकी, फार्म—वानिकी तथा उत्पादन-वानिकी आदि प्रोग्राम, वनों के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र को बढ़ाने

के लिए चालू किए गये हैं। सन् 1980-85 की अवधि में सामाजिक वानिकी के अंतर्गत 16.55 लाख हेक्टेयर क्षेत्र पर पौधे उगाये गये थे, जब कि इसी अवधि में फार्मवानिकी के अन्तर्गत 378.5 करोड़ पौधे लोगों को रोपण के लिए दिये गये थे। परन्तु वन कार्यक्रमों का प्रभाव, पौधों के जीवित रहने की दर द्वारा ही प्रतिबिम्बित होगा। लोग आजकल वनों के संरक्षण की आवश्यकताओं के प्रति अधिक चेतन हो रहे हैं। 'चिपको आंदोलन' की तरह गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ आन्दोलनों ने, न केवल जागरूकता पैदा की है, बल्कि संरक्षण कार्य में आम जनता के सक्रिय रूप से भाग लेने को बढ़ावा दिया है। राष्ट्रीय वन-नीति, 1988 के अंतर्गत वनों के बचाव, पुनर्जनन तथा विकास की प्रक्रियाओं में जनजातियों तथा वनों के आसपास रहने वाले लोगों को सम्मिलित करने का विचार है।

पशुधन तथा घासस्थल

पशु पालन वास्तव में भारतीय कृषि की एक सहायक क्रिया है। देश के सभी भागों में भारतीय किसान कर्षण-शक्ति के लिए जानवरों पर निर्भर रहता है। पशुओं से हमें, अति आवश्यक खाद की प्राप्ति होती है। दूध देने वाले पशु इसलिए पाले जाते हैं, जिससे कि घर-परिवार को अतिरिक्त आय मिल सके। भारतीय समाज में पशुओं को सदा से ही धन-सम्पति के रूप में माना गया है, क्योंकि इसमें से कुछ को गौधन, गजधन तथा बाजीधन बतलाया गया है। कृषि की विभिन्न संक्रियाओं के लिए पशुओं पर हमारी जो निर्भरता रही है, उसके कारण उनके प्रति हमारी आस्था बहुत अधिक बढ़ गई है।

सन् 1982 की पशुधन गणना के अनुसार भारतवर्ष में पशुधन की कुल संख्या 4196 लाख थी, इसमें से 45.9 प्रतिशत गाय-बैल थे। कर्षण-शक्ति और दूध-उत्पादन की दृष्टि से हमारे गाय-बैल घटिया किस्म के हैं, किन्तु उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनके महत्व को अलग नहीं किया जा सकता। भारतवर्ष, कुछ बड़ी महत्त्वपूर्ण गाय-बैलों की नस्लों का जन्मस्थल माना जाता है उदाहरण के लिए – कैंक्रेज, राठी, साहीवाल, गिर, थरपारकर तथा कैंगेयाम नस्लें। कर्षण-पशु के लिए नागोरी नस्ल बहुत प्रसिद्ध है। राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु के अल्प वर्षा वाले क्षेत्रों में पशुओं की उत्तम नस्लें पाई जाती हैं।

भारतवर्ष में दूध देने वाले पशुओं में भैंस एक महत्त्वपूर्ण पशु है। सन् 1982 में कुल पशु संख्या में इनका प्रतिशत 16.6 था। भैंसों की कुल संख्या का 75 प्रतिशत भाग मुख्यतः दूध प्राप्त करने के उद्‌देश्य से पाली जाने वाली भैंसों का है। पश्चिमी बंगाल, असम, उड़ीसा तथा केरल के आर्द्र तथा अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में इनका उपयोग कर्षण के लिए भी किया जाता हैं, इतना ही नहीं, कुछ भागों में इनका उपयोग जलप्लावित खेतों में हल चलाने के लिए भी किया जाता है। हरियाणा और पंजाब अपने 'मुर्राह' नामक नस्ल की भैंसों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में जहाँ चावल प्रमुख फसल है, वहाँ नर भैंसों की संख्या का अनुपात बहुत अधिक है।

भारतवर्ष में पशुधन की कुल संख्या का 11.6 प्रतिशत भाग भेड़ों का है। ये अधिकाँशतः माँस और ऊन प्राप्त करने के लिए पाली जाती हैं। सन् 1984-85 में भारत ने 3.7 करोड़ किलोग्राम ऊन

उत्पन्न किया था। आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु में भेड़ों की संख्या तो अधिक है, किन्तु उत्तरी-पश्चिमी भारत में पाली जाने वाली भेड़ों से प्राप्त किये हुए ऊन की तुलना में वह घटिया और छोटे रेशे वाला है। राजस्थान में मारवाड़ी नस्ल की भेड़ से जो ऊन प्राप्त होता है वह उत्तम किस्म का है। हिमालय पर्वत प्रदेश में यायावर पशुचारक भी भेड़ों के झुंड पालते हैं, उदाहरण के लिए जम्मू और कश्मीर के बकरवाल तथा हिमाचल प्रदेश के गड्डीज। भेड़ की नस्ल को उन्नत करने के लिए हिसार में एक 'सेन्ट्रल शीप ब्रीडिंग फार्म' की स्थापना की गई है।

भेड़ की तुलना में बकरों की संख्या बहुत अधिक है। सन् 1982 में ये देश के पशुधन की कुल संख्या का 22.7 प्रतिशत भाग थे। बकरी वास्तव में निर्धन व्यक्ति की गाय समझी जाती है। यह उत्तरी भारत के मैदानों तथा पहाड़ी भागों में बहुत अधिक संख्या में हैं। इसकी संख्या तेज़ी से बढ़ती जा रही है। सन् 1966 में यह संख्या 646 लाख थी, जो बढ़कर सन् 1982 में 953 लाख हो गई। भेड़ और बकरे, दोनों ही गड़रियों के लिए नकदी के रूप में होते हैं, क्योंकि आवश्यकता के समय वे इनको बेच कर नकद राशि प्राप्त कर सकते हैं। यही कारण है कि गड़रिए इनकी संख्या को बढ़ाने के चक्कर में रहते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप चरागाहों और चारण-स्थलों पर दबाव निरन्तर बढ़ता रहता है।

कुछ ऐसे जानवर भी हैं, जो अपने विशिष्ट प्रदेशों में भारवाहक पशुओं के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में घोड़े, टट्टू और खच्चरों का उपयोग मनुष्य और माल दोनों को ढोने के लिए किया जाता है। शुष्क और अर्धशुष्क प्रदेशों में ऊँट प्रमुख भारवाही पशु हैं। लद्दाख और हिमाचल प्रदेश में याक उपयोग में लाये जाते हैं।

भारतवर्ष में जानवरों की किस्म घटिया है। यहाँ इनकी संख्या अधिक है और वे अनुत्पादी हैं तथा उपलब्ध चारा-संसाधनों पर भार बने हुए हैं। पशुओं की संख्या, न केवल आर्थिक कारणों से, बल्कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारणों से भी बढ़ती है। पशु संपत्ति के रूप में वे अपने स्वामी को एक प्रतिष्ठित सामाजिक स्तर प्रदान करते हैं। भारतवर्ष में स्थाई चरागाह और चारण-स्थल, देश के ज्ञापित क्षेत्रफल का 3.8 प्रतिशत भाग है। यदि चरागाह क्षेत्र में परती भूमि और खेती योग्य बेकार भूमि भी शामिल कर ली जायें, तो इनका कुल प्रतिशत लगभग 16.4 हो जाता है। नमी की दशाओं में जो ऋतुवत विभिन्नता पाई जाती है, उसके परिणामस्वरूप घास-आवरण में तथा चरागाह स्थलों की चारण-क्षमता में भी विभिन्नता पाई जाती है। शस्य-अवशिष्ट, पशु के चारे के रूप में बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। दूध देने वाले पशुओं को सान्द्रों, खली और अनाजों के रूप में पौष्टिक भोजन दिया जाता है। चारे की आपूर्ति किसान बरसीम तथा ज्वार-बाजरा जैसी चारा-फसलों के उत्पादन द्वारा भी करते हैं। वैज्ञानिक चारा उत्पादन प्रौद्योगिकी उपलब्ध कराने के उद्देश्य से विभिन्न कृषि जलवायवी क्षेत्रों में सात प्रादेशिक केन्द्र स्थापित किए गये हैं। ये इस प्रकार हैं — हिसार (हरियाणा), कल्याणी (पश्चिम बंगाल), गाँधी नगर (गुजरात), अलमदी (तमिलनाडु), हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश), सूरतगढ़ (राजस्थान) और शेहामा (जम्मू-कश्मीर)।

डेरी विकास संक्रिया को प्रेरणा देने के उद्देश्य से जुलाई सन् 1970 में ऑपरेशन फ्लड- I नामक

अभियान प्रारम्भ किया गया था। ऑपरेशन फ्लड II अप्रैल 1981 में शुरू किया गया और मार्च 1985 तक लगातार चलता रहा। ऑपरेशन फ्लड III अभी भी चालू है। ऑपरेशन फ्लड एक समेकित दुग्ध विकास प्रोग्राम है जो दुग्ध सहकारिताओं पर आधारित है। इसका प्रमुख उद्‌देश्य, ग्रामीण दुग्ध उत्पादकों को लाभकारी कीमत प्रदान करना है जो नगरों जैसे उपभोगी क्षेत्रों को आपस में जोड़कर किया जा सकता है। यह ग्रामीण विकास की अनेक युक्तियों में से एक है।

मात्स्यकी एवं समुद्री संसाधन

मत्स्य एक प्रोटीन-समृद्ध खाद्‌य है। मत्स्य उद्योग खाद्‌य संसाधनों की वृद्धि में सहायक होते हैं, और लोगों को रोजगार प्रदान करते हैं। यह मानव का सबसे प्राचीन व्यवसाय है। जबकि आखेटन के अन्य रूप व्यवसाय के रूप में पृथ्वी के बृहत भागों में इतने अधिक प्रचलित नहीं हैं, मत्स्यन न केवल इस दौरान जीवित रहा है, बल्कि इसका आधुनिकीकरण भी कर लिया गया है। भारतवर्ष की लम्बी तटरेखा करीब 7,517 किलोमीटर है। इस देश में बहुत से जलाशय भी हैं, जैसे— तालाब, नदियां तथा झीलें आदि। भारत में मात्स्यकी तटवर्तीय क्षेत्रों तक ही सीमित है, किन्तु कुल मत्स्यग्रहण का अधिकाँश भाग अंतर्देशीय मत्स्यन से प्राप्त होता है। यद्‌यपि भारत में मात्स्यकी के विकास की तुलना जापान या नार्वे से नहीं की जा सकती, फिर भी गत वर्षों में इसमें महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 में कुल मत्स्यग्रहण की मात्रा 7.52 लाख टन बतलाई गई थी। इसमें से 5.34 लाख टन मत्स्य महासागर से, और 2.18 लाख टन अन्तर्देशीय जलाशयों से प्राप्त की गई थी। सन् 1986-87 में यह मात्रा बढ़ कर 29.42 लाख टन हो गयी। इसमें से समुद्री मत्स्य की मात्रा 17.13 लाख टन तथा अन्तर्देशीय मत्स्य की मात्रा 12.29 लाख टन थी। यह वृद्धि कुल मत्स्यग्रहण की मात्रा की दृष्टि से चौगुनी थी। भारतवर्ष में चार प्रमुख मत्स्यन पोताश्रय हैं-कोचीन, मद्रास, विशाखापट्टनम तथा रायचौक। इनके अतिरिक्त 16 लघु मत्स्यन पोताश्रय तथा 82 मत्स्यन स्थलन केन्द्र इसलिए बना दिये गये हैं, जिससे कि मत्स्यग्रहण की वृद्धि की जा सके। खारे जल में मत्स्य और प्रॉन के विकास के लिए एक योजना बनाई गई है, जिसे 'ब्रैकिश वाटर ऐक्वाकल्चर स्कीम' कहते हैं। भारतवर्ष में खारे जल का कुल क्षेत्र 9.02 लाख हेक्टेयर है, और इसके अतिरिक्त 20.2 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र ऐसा है, जिसे 'एक्सक्लूसिव इकोनॉमिक ज़ोन' (इ.ई.जेड) कहते हैं। यह समुद्री मात्स्यकी के एक बृहत विभव को प्रदर्शित करता है। समेकित मात्स्यकी प्रोजेक्ट के अंतर्गत अरूढ़ किस्मों की मछली को लोकप्रिय बनाया जायेगा।

अन्य समुद्री संसाधनों में तेल एवं प्राकृतिक गैस, समुद्री खर-पतवार, लवण तथा खनिज पदार्थ शामिल किए जाते हैं। भारतवर्ष ने महाद्‌वीपीय मग्न तट से तेल प्राप्त करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। सागर सम्राट, बौम्बे हाई से बराबर तेल निकाल रहा है। हिन्द महासागर में, 15,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र से, मैंगनीज नोड्‌यूल्स खनन करने के संबंध में भारत ने भी अनुमति प्राप्त कर ली है। इस प्रकार महासागर, भविष्य के लिए संसाधनों के संग्रहागार हैं।

ऊर्जा-संसाधन

उत्पादन प्रक्रम को त्वरित करने के लिये, ऊर्जा एक महत्त्वपूर्ण निवेश है, और इसी के कारण आर्थिक विकास होता है। विश्व में वाणिज्य-ऊर्जा के प्रति व्यक्ति उपयोग की दृष्टि से भारतवर्ष बहुत पिछड़ा हुआ है, क्योंकि यह केवल 1/8वाँ भाग ही उपयोग कर पाता है। कोयला, तेल और विद्युत से जो वाणिज्य-ऊर्जा प्राप्त होती है, वह भारत में उपयोग में लाई जाने वाली कुल ऊर्जा का 50 प्रतिशत से थोड़ा ही अधिक है। अन्य आधी ऊर्जा अवाणिज्य ऊर्जा-संसाधनों, जैसे—गोबर, ईंधन, वाष्प और ईंधन के रूप में इस्तेमाल होने वाले फसलों के उप-उत्पादों से प्राप्त होती है। ऊर्जा संकट को दूर करने के लिये अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। अब ऊर्जा के अपारम्परिक साधनों जैसे सौर, पवन और जैव-ऊर्जा को विकसित और प्रोत्साहित किया जा रहा है। वाणिज्य-ऊर्जा को उपयोग में लाने वाले प्रमुख क्षेत्र घर-गृहस्थी, कृषि, उद्योग तथा परिवहन हैं। अन्य क्षेत्र गौण हैं। सारणी 1.1 भारत में सन् 1960-61, 1979-80 और 1984-85 की अवधियों में वाणिज्य-ऊर्जा के उपयोग प्रारूप को निरूपित कर रही है।

सारणी 1.1

	वाणिज्य-ऊर्जा उपयोग (प्रतिशत में)		
क्षेत्र	1960-61	1979-80	1984-85
घर-गृहस्थी	20.6	15.7	18.2
कृषि	3.6	9.4	9.8
उद्योग	39.2	38.2	36.4
परिवहन	33.8	32.8	31.4
अन्य	2.8	3.9	4.2

स्रोतः सातवीं पंचवर्षीय योजना, 1985-90, खंड -2, योजना आयोग, नयी दिल्ली, पृष्ठ-121

उपरोक्त तालिका यह प्रदर्शित करती है कि वाणिज्य-ऊर्जा के उपयोग में कृषि का हिस्सा गत 25 वर्षों में बहुत तेज़ी से बढ़ा है। यह सन् 1960-61 में 3.6 प्रतिशत था, जो सन् 1984-85 में 9.8 प्रतिशत हो गया। उद्योग और परिवहन अब भी वाणिज्य-ऊर्जा का बृहत अनुपात में उपयोग करने वाले प्रमुख क्षेत्र हैं। ये दोनों मिलकर, सन् 1984-85 के दौरान उपयोग की जाने वाली कुल ऊर्जा का 67.8 प्रतिशत भाग उपयोग कर रहे थे। कोयला, खनिज तेल तथा विद्युत, ऊर्जा के प्रमुख संसाधन हैं।

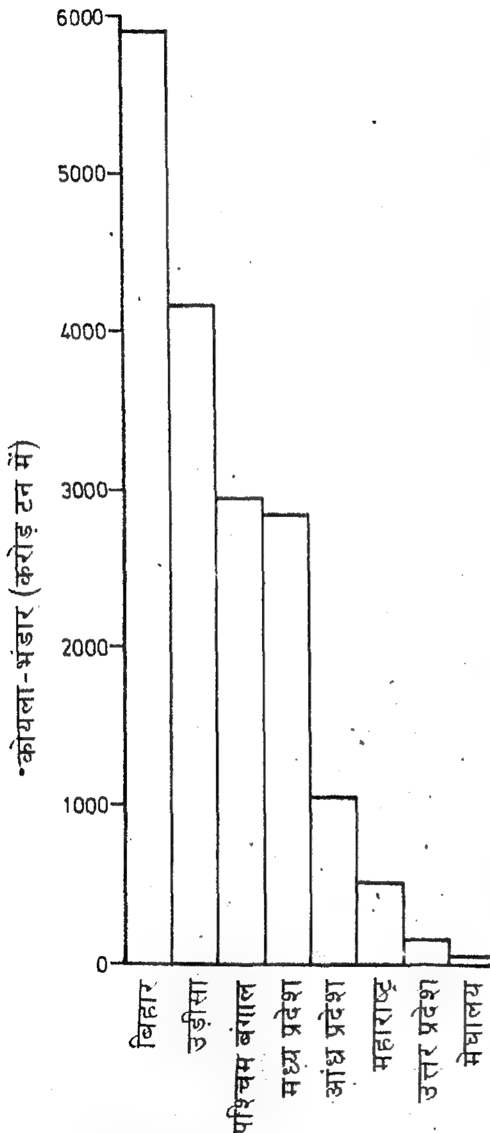
कोयला

ईंधन के रूप में कोयला शक्ति का एक ऐसा साधन है जिसका उद्योग-धंधों के विकास में अधिकतम योगदान है। यदि हम इस तथ्य को ध्यान में रखें कि हमारे खनिज तेल के संसाधन सीमित हैं, तो केवल कोयला ही शक्ति का एक प्रमुख साधन रह जाता है, जिसका उपयोग बराबर होता रहेगा। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह ऊर्जा के अन्य रूपों जैसे—विद्युत, गैस तथा तेल में आसानी से परिवर्तित किया जा सकता है।

भारतीय भू-विज्ञान सर्वेक्षण विभाग के आकलनों के अनुसार जनवरी, सन् 1989 तक, भारत का कोयला-निचय 17,633.04 करोड़ टन था।

चित्र 1.3 को देखने से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि जनवरी, सन् 1989 तक, कोयला-निचय का स्थानिक प्रारूप किस प्रकार का था।

कोयले का सबसे बड़ा निचय बिहार में पाया जाता है। यहाँ भारत के कुल निचय का लगभग



चित्र 1.3 कोयला—भंडार का स्थानिक प्रारूप (जनवरी 1989 तक)

33.53 प्रतिशत भाग है। इसके बाद उड़ीसा का नम्बर है। यहाँ भारत के कुछ निचय का 23.57 प्रतिशत भाग मिलता है। वास्तव में बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश में भारत के कुल निचय का 90.30 प्रतिशत भाग पाया जाता है।

भारत में प्रमुख कोयला क्षेत्र इस प्रकार हैं: – झरिया, रानीगंज, पूर्वी और पश्चिमी बोकारो, करनपुरा, पेंचरेतहन, ताबा-घाटी, सिंगरौली, तलचर, चाँदा-वर्धा तथा गोदावरी घाटी।

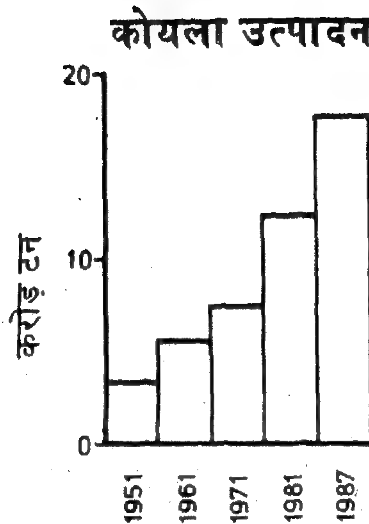
भारतवर्ष में कोयले का उत्पादन, सन् 1987-88 में 17.98 करोड़ टन था। इसमें 83 लाख टन लिगनाइट की मात्रा शामिल नहीं है। इस देश में बिहार सबसे मुख्य कोयला उत्पादक राज्य है। सन् 1951 में इसका कुल उत्पादन 305 करोड़ टन था। उस समय से लेकर अब तक कोयले का उत्पादन पाँच गुणा अधिक हो गया है। भारत में कोयला-उत्पादन का प्रबंध कोल इंडिया लिमिटेड अपनी सात कम्पनियों द्वारा करती है।

कोयले का उपयोग करने वाला प्रमुख क्षेत्र शक्ति जनन है। इसके बाद इस्पात, सीमेंट और उर्वरक उद्योग-धंधे हैं। रेलवे विभाग में अब कोयले की माँग बहुत कम हो गई है क्योंकि इंजनों का अब डीजलीकरण तथा विद्युतीकरण कर दिया गया है।

कोयला-खनन में आज भी अनेक संकट हैं। खानों के अन्दर कभी-कभी छतें गिर जाती हैं, उनमें जल भर जाता है, कभी-कभी जहरीली गैसें निकलने लगती हैं, तथा आक्सीजन और प्रकाश के अभाववश भयंकर समस्याएं उठ खड़ी होती हैं।

तेल और प्राकृतिक गैस

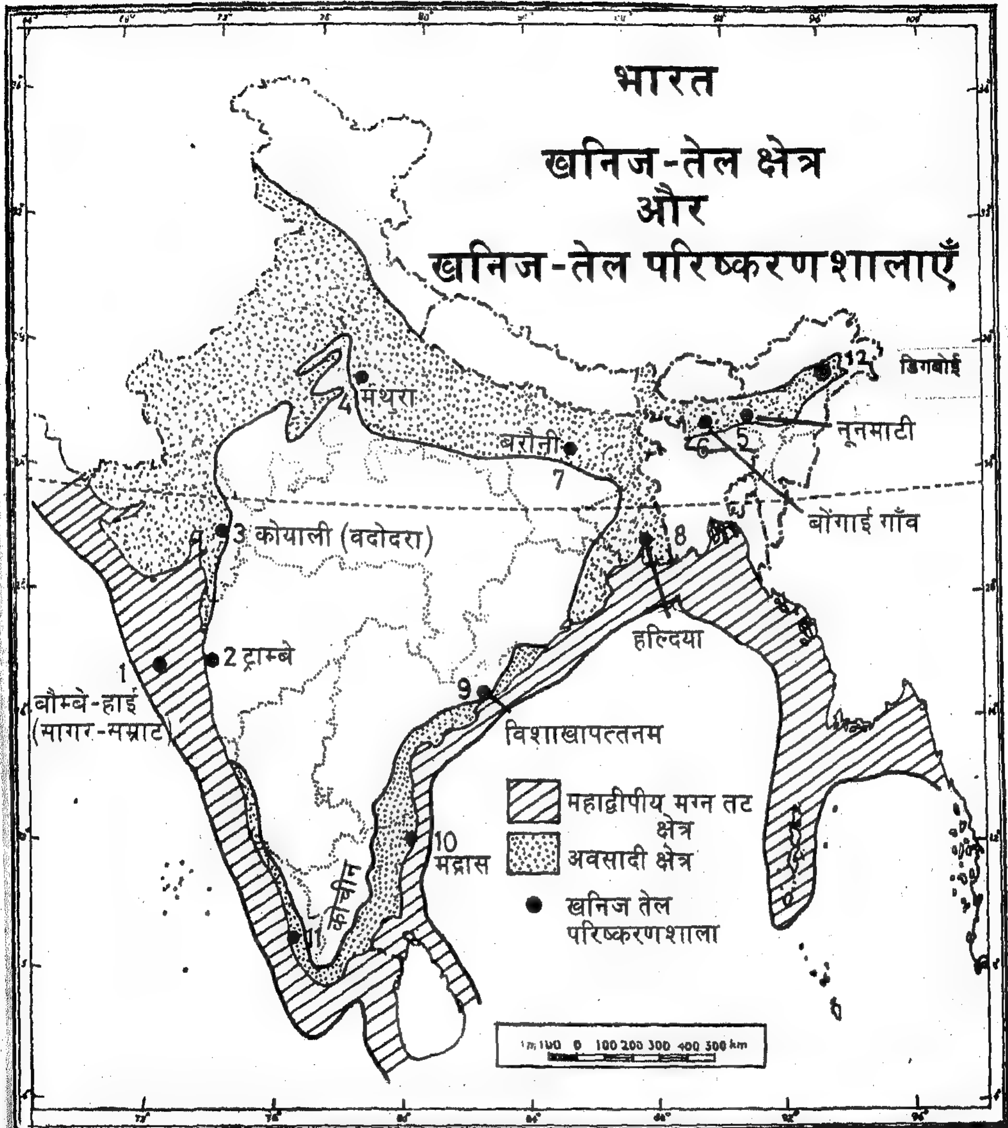
वह क्षेत्र जिसमें तेल पाया जा सकता है, 17.2



चित्र 1.4 कोयला उत्पादन

लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल पर फैला हुआ है। इसमें से 3 लाख 20 हजार वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र वह अवसादी अपतट क्षेत्र है, जो 200 मीटर की गहराई तक मिलता है। तेल-धारी परत वाले 13 महत्त्वपूर्ण बेसिन हैं, जिनको तीन वर्गों में रखा जा सकता है। कैम्बे बेसिन, ऊपरी असम तथा बम्बई अपतट बेसिन, वास्तव में पेट्रोफेरस बेसिन है, जहाँ से वाणिज्य-उत्पादन प्राप्त किया जा रहा है। राजस्थान, कावेरी-कृष्णा-गोदावरी बेसिन, अंडमान, बंगाल-हिमालय पाद पहाड़ियाँ, गंगा घाटी तथा त्रिपुरा-नागालैंड वलय-मेखला के बारे में यह पता है कि यहाँ पेट्रोलियम-धारी परत पाये जाते हैं। फिर भी अभी तक इन प्रदेशों में वाणिज्य पैमाने पर उत्पादन शुरू नहीं किया गया है। कच्छ-सौराष्ट्र, केरल-कोंकन तथा महानदी में ऐसी अनुकूल भूवैज्ञानिक संरचनाएँ पाई जाती हैं, जहाँ पेट्रोलियम पाया जा सकता है। इसी वजह से इन बेसिनों के बारे में विचार किया जाता है कि ये पेट्रोलियम उत्पादन के भावी प्रदेश हैं।

देश में पेट्रोलियम का उत्पादन, उपभोग को देखते हुए बहुत ही कम है। सन् 1950-51 में उपलब्ध होने वाला कुल कच्चा तेल 2.5 लाख टन था, जब कि पेट्रोलियम उत्पादों का उपभोग 34 लाख टन था। सन् 1988 में कच्चे तेल का उत्पादन 2.39 करोड़ टन हो गया था, परन्तु सन् 1950-51 के मुकाबिले यह वृद्धि 2.4 करोड़ टन थी। उपभोग तल भी बढ़कर 3.64 करोड़ टन हो गया और इस प्रकार उत्पादन और उपभोग के मध्य 1.25 करोड़ टन का अन्तर रह गया। हमारे देश को 131.18 लाख टन कच्चा तेल, और 45.27 लाख टन



चित्र 1.5 भारत-खनिज-तेल क्षेत्र और खनिज-तेल परिष्करणशालाएँ
1. बौम्बे-हाई (सागर-सम्राट) 2. ट्राम्बे 3. कोयाली (वदोदरा) 4. मथुरा 5. गुवाहाटी 6. बोंगाईगाँव 7. बरौनी 8. हल्दिया 9. विशाखापत्तनम 10. मद्रास 11. कोचीन 12. डिगबोई

पेट्रोलियम उत्पाद अप्रैल-दिसम्बर 1988 की अवधि में, उपभोग आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये, आयात करना पड़ा था।

भारत में तेल परिष्करण 12 परिष्करणशालाओं में किया जाता है। इनकी परिष्करण करने की कुल क्षमता, 495.5 लाख टन प्रतिवर्ष की है।

इन 12 परिष्करणशालाओं के अतिरिक्त करनाल (हरियाणा) और मैंगलोर में भी दो परिष्करणशालाएँ, स्थापित करने के प्रस्ताव हैं। देश में जितनी परिष्करणशालाएँ हैं, उनकी तेल-परिष्करण करने की कुल क्षमता का केवल 95.8 प्रतिशत ही अब तक उपयोग में लाया गया है।

प्राकृतिक गैस अब ऊर्जा का एक गतिक साधन बन गया है। भारत के पश्चिमी तट से दूर दक्षिणी बेसिन में इसके बृहत निचय पता कर लिये गये हैं। पुनः प्राप्त होने वाले गैस-निचय सन् 1985 में 47,900 करोड़ घन मीटर थे जो सन् 1987 में बढ़कर 54,100 करोड़ घन मीटर हो गई थी। इस समय प्राकृतिक गैस, कैम्बे बेसिन में मादा, कावेरी अपतट तथा जैसलमेर जिले में तेनोत से प्राप्त की जा रही है। भारतवर्ष ने सन् 1984-85 में गैस का कुल उत्पादन 723 करोड़ घन मीटर अभिलिखित किया था, जब कि सन् 1979-80 की अवधि में यह आंकड़ा केवल 276 करोड़ घन मीटर था। इसका अर्थ यह हुआ कि इन पाँच वर्षों की अवधि में उत्पादन 2.61 गुना बढ़ गया। सन् 1988-89 की अवधि में यह और भी बढ़ा और बढ़कर 787 करोड़ घन मीटर हो गया। एच. बी. जे. पाइप लाइन, गैस परिवहन करने का एक बड़ा प्रयास है। घर-गृहस्थी में इस्तेमाल होने वाली ईंधन पूर्ति में, गैस का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है।

सर्वतोमुखी ऊर्जा-स्रोत के रूप में, भारत में विद्युत शक्ति उत्पन्न की जाने की बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं। इसका संचरण आसानी से किया जाता है। ऊर्जा का यह एक बहुत ही स्वच्छ रूप है। उद्योग धंधे तथा कृषि दोनों में इसे एक बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। विद्युत वास्तव में कोयला, गैस, तेल, जल तथा परमाणु ईंधन से उत्पन्न की जा सकती है।

उपर्युक्त सभी साधनों में जल विद्युत शक्ति (एच. ई. पी.) सबसे सस्ती है। इसके लिये जल की एक बहुत बड़ी शक्ति का बारहमासी प्रवाह आवश्यक है। जल एक ऊँचे स्थान से गिरना चाहिये चाहे वह स्थान प्राकृतिक हो या नदी पर बाँध बना कर बनाया गया हो। यदि जल एक नदी बेसिन से दूसरे नदी बेसिन तक विस्थापित किया गया हो, तो भी ऐसी अवस्था में जल विद्युत शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। जल विद्युत शक्ति उत्पन्न करने के लिये सबसे आवश्यक वस्तु यह है कि इसके उपयोग के लिये तुरन्त उपलब्ध बाज़ार निकट में होना चाहिये, क्यों विद्युत को संचित नहीं कर सकते। वास्तव में जल विद्युत शक्ति का जनन, एक पूंजी गहन क्रिया है। इसमें बहुत ही अधिक पूंजी लागत की आवश्यकता है।

कई बहुद्देशीय नदी-घाटी परियोजनाएँ जैसे-भाखरा-नंगल, दामोदर घाटी, हीराकुड, चम्बल घाटी आदि प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में प्रारम्भ की गई थीं। सैन्ट्रल इलेक्ट्रिसिटी अथॉरिटी ने 60 प्रतिशत लोड कारक पर 89,830 मेगावाट के वार्षिक जल विद्युत विभव का निर्धारण किया है।

इस क्षमता का करीब 20 प्रतिशत भाग ही अभी निकाला जा रहा है। जल और ताप-विद्युत

शक्ति जनन के मध्य पाया जाने वाला अनुपात छठी पंचवर्षीय योजना की अवधि में 33.7 : 66.3 था, और यह आशा की जाती है कि सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक यह घट कर 30.7 : 69.3 हो जायेगी। यह इस तथ्य को प्रकट करता है, कि तापीय शक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। इसके क्या कारण हैं, और इससे क्या समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं? जल विद्युत शक्ति के समेकित विकास को नियोजित और संगठित करने के उद्देश्य से सन् 1975 में नेशनल हाइड्रोइलेक्ट्रिक पावर कारपोरेशन (एन.एच.पी.सी.) की स्थापना की गई थी। यह कई परियोजनाओं, जैसे— यूरी दुल्हस्ती तथा सलाल (जम्मू और कश्मीर), चमेरा (हिमाचल प्रदेश) टनकपुर (उत्तर प्रदेश) तथा लोकटक (मणिपुर) के निष्पादन में व्यस्त है।

भारतवर्ष ने परमाणु खनिजों से शक्ति उत्पन्न करने की प्रौद्योगिकी भी प्राप्त, विकसित तथा संगठित कर ली है। यद्यपि कुल शक्ति जनन में परमाणु शक्ति का हिस्सा बहुत ही थोड़ा है अर्थात कुल विद्युत जनन में यह केवल 2.6 प्रतिशत है, फिर भी इस शक्ति का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। इसके विकास में वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक कुशलता की बहुत अधिक आवश्यकता रहती है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि एक परमाणु शक्ति संयंत्र की रचना में बहुत अधिक समय लगता है, और इसके अतिरिक्त इसमें भारी पूंजी निवेश की भी आवश्यकता होती है। इसमें रिसने के जरिए उत्पन्न दुर्घटना का खतरा बराबर बना रहता है, जैसा कि सोवियत रूस के चारनोविल राज्य में हुआ था।

परमाणु ऊर्जा उत्पन्न करने में जो बेसिक खनिज उपयोग में लाये जाते हैं, वे यूरेनियम तथा थोरियम हैं। यूरेनियम, बिहार की ताम्र पेटी में तथा राजस्थान में अरावली श्रेणी की चट्टानों में पाया जाता है। केरल तट पर जो मोनेज़ाइट बालू मिलता है, उसमें भी यूरेनियम की मात्रा पाई जाती है। यह गया (बिहार) में अभ्रक की खानों, नेलोर (आन्ध्र प्रदेश) तथा उदयपुर और जयपुर जिलों (राजस्थान) में भी प्राप्त किया जाता है।

भारतवर्ष के अधिकांश परमाणु शक्ति केन्द्रों की स्थापना जल के साधनों के निकट की गई है, क्योंकि इसकी आवश्यकता शीतलन कार्यों में बहुत अधिक मात्रा में पड़ती है। प्रथम परमाणु शक्ति केन्द्र तारापुर में बनाया गया था। अन्य संयंत्र मद्रास के निकट कलपक्कम तथा बुलन्दशहर जिले में नरोरा नामक स्थान पर अवस्थित है। राजस्थान में रावतभाटा और कर्नाटक में कैगा नामक स्थानों पर परमाणु शक्ति केन्द्र स्थापित करने का एक प्रस्ताव भी है। योजना यह है कि सन् 2000 तक 10,000 मेगावाट परमाणु ऊर्जा उत्पन्न की जाये। भारतवर्ष छह देशों, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ब्रिटेन, फ्रांस तथा कनाडा, में से एक है, जिसने बगैर किसी बाहरी सहायता के एक परमाणु शक्ति केन्द्र के डिज़ाइन एवं निर्माण से लेकर उसे चालू करने तथा ऊर्जा उत्पन्न करने की क्षमता को विकसित कर लिया है।

खनिज पर आधारित ऊर्जा, चाहे वह कोयला, खनिज तेल या परमाणु खनिज पर अवलम्बित हो पर अधिक समय तक निर्भर नहीं रहा जा सकता क्योंकि ये सब नष्टवान हैं। इसलिये संसार के सभी वैज्ञानिक अपारंपरिक साधनों के विकास की कोशिश कर रहे हैं। ये साधन हैं —सूर्य की

रोशनी, पवन, ज्वारीय तरंगें तथा भूतापीय ऊर्जा संसाधन। हमारे सामने एक अन्य विकल्प बायोगैस के विकास का है। यह पुनः एकीकरणीय ऊर्जा साधनों पर आधारित है। यह आशा की जाती है कि कुल ऊर्जा-माग के 20 प्रतिशत भाग की पूर्ति सन् 2001 तक अपारम्परिक ऊर्जा साधनों से हो जायेगी।

सूर्य का प्रकाश, उत्तरी पहाड़ी प्रदेश को छोड़कर देश के हर भाग में बहुत अधिक मिलता है। खाना पकाने, जल और घर गर्म करने के लिए निम्न ग्रेड की तापीय ऊर्जा उत्पन्न करने की प्रौद्योगिकी हमारे देश में विकसित की जा चुकी है। अप्रैल, सन् 1988 तक उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार, पूरे देश में 92,000 से अधिक सौर-कुकर उपयोग में थे। देश में अब तक करीब 11000 सूर्य-प्रकाश वोल्टीय रोशनी, 800 सूर्य-प्रकाश वोल्टीय जल-पम्पन तंत्र, तथा 200 घरेलू रोशनी तन्त्रों की स्थापना कर दी गई है। भू-तापीय ऊर्जा पर आधारित, पाँच किलोवाट शक्ति का संयंत्र हिमाचल प्रदेश में मनीकर्ण नामक स्थान पर स्थापित किया गया है। पवन-ऊर्जा, तमिलनाडु, उड़ीसा, गुजरात और महाराष्ट्र में उत्पन्न की जा रही है। इंडियन रिन्यूएवल एनर्जी डेवेलपमेंट एजेंसी लिमिटेड, जिसकी स्थापना सन् 1987 में हुई थी, को यह काम सौंपा गया है कि वह अपारम्परिक साधनों से ऊर्जा उत्पन्न करने तथा उसके संरक्षण की उचित प्रौद्योगिकी का विकास करे।

नवीकरण योग्य ऊर्जा-तंत्र को बड़े पैमाने पर उपयोग करने में मुख्य बाधा यह है कि इसमें प्रारम्भिक चरणों में बहुत अधिक पूंजी-व्यय आता है। हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार के ऊर्जा-स्रोत को अपनाने में कुछ सामाजिक और साँस्कृतिक व्यवधान भी हैं। गाँव के लोग आज भी, मलमूत्र संबधित बायो गैस-संयंत्र से जैव गैस उपयोग करने के बारे में सोच भी नही सकते। यदि यह बायोगैस ग्रामवासियों द्वारा स्वीकार हो जाये, तो इसका परिणाम यह होगा कि गाँवो में और भी अधिक सफाई रहेगी, जिससे पर्यावरण स्वच्छ होगा, और मानव-मलमूत्र को मानव द्वारा हटाये जाने की परम्परा समाप्त हो जायेगी। वास्तव में सामूहिक बायोगैस संयंत्र के विकास के लिये, सहकारी प्रयत्नों तथा समूह-क्रिया की आवश्यकता है।

भारतवर्ष में ऊर्जा के जनन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है, फिर भी, ऊर्जा के प्रतिव्यक्ति उपभोग में यह अन्य देशों की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ है। सन् 1965 में प्रति व्यक्ति ऊर्जा-उपभोग, 100 किलोग्राम तैल-समतुल्य था, जो सन् 1985 में बढ़कर 201 किलोग्राम तैल-समतुल्य हो गया था। सन् 1985 में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान का प्रति व्यक्ति ऊर्जा उपभोग क्रमशः 3603, 7278 और 3116 किलोग्राम तैल-समतुल्य था। भारतवर्ष में इतने कम ऊर्जा उपभोग के मुख्य कारण क्या हैं?

खनिज संसाधन

वास्तव में खनिज संसाधन, उत्पादन के प्राकृतिक साधन हैं। ये खनिज बहुत से उद्योग-धंधों में कच्चे पदार्थों के रूप में उपयोग किये जाते हैं। लौह अयस्क, मैंगनीज़, बाक्साइट तथा तांबा आदि इसी प्रकार के खनिज हैं। खनिज दो प्रकार के होते हैं। प्रथम, धात्विक और द्वितीय-अधात्विक। लौह अयस्क तथा तांबा धात्विक

खनिज हैं, जबकि चूना पत्थर तथा डोलोमाइट अधात्विक खनिज के वर्ग में आते हैं। धात्विक खनिजों का आगे भी उपविभाजन किया गया है– लौहयुक्त तथा अलौहयुक्त खनिज। वे धात्विक खनिज जिनमें लौह अंश पाया जाता है, लौहयुक्त खनिज के वर्ग में आते हैं। धात्विक खनिज, जिनमें लौह अंश नहीं पाया जाता, अलौह वर्ग में शामिल किये जाते हैं। अधिकांश खनिजों में कुछ अद्वितीय विशेषताएँ पाई जाती हैं। ये असमान रूप से वितरित होते हैं। कुछ प्रदेशों में बृहत निक्षेप पाये जाते हैं, जबकि कुछ में किसी भी प्रकार के निक्षेप नहीं पाये जाते। अधिकांश खनिज समाप्त होने योग्य हैं, क्योंकि इनके निर्माण में बहुत ही अधिक लम्बा समय लगता है। खनिजों के गुण और मात्रा विपरीत रूप से संबधित हैं। अच्छे गुण वाले खनिज बहुत कम मात्रा में पाये जाते हैं।

भारतवर्ष में बहुत से खनिज पाये जाते हैं। सन् 1987 में खनिजों का कुल मूल्य रू. 11,363.4 करोड़ था। जबकि सन् 1950 में कुल मूल्य केवल 82.3 करोड़ रू. था। यद्यपि खनिजों के उत्पादन-मूल्य में जो थोड़ी बहुत वृद्धि हुई है वह कीमतों में वृद्धि के कारण बतलाई जा सकती है, फिर भी इनकी मात्रा में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। भारत लौहयुक्त धातुओं में समृद्ध है, परन्तु अलौहयुक्त धातुओं के निचय में निर्धन है। इस देश के बृहत आकार और विभिन्न भूवैज्ञानिक रचनाओं के कारण प्रकृति ने इसे खनिजों की बहुत किस्में दी हैं। भारत के अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में चूना पत्थर, जिप्सम तथा लवणों, जैसे घुलनशील खनिजों का अभाव है। भारतवर्ष के उत्तरी मैदानों में जलोढ़क की एक मोटी परत पाई जाती है, जिसने नीचे के आधारशैलों को पूर्णतया ढँक लिया है। यह प्रदेश खनिज संसाधनों में बहुत निर्धन है। हिमालय में विभिन्न प्रकार के शैल पाये जाते हैं, परन्तु इसकी भूवैज्ञानिक संरचना बहुत ही जटिल है। इस पर्वतीय भू-क्षेत्र में खनिजों का अवशोषण आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं है, इसलिये नहीं कि किसी एक अवस्थिति पर केवल थोड़ी ही मात्रा में खनिज उपलब्ध हो पाता है, बल्कि इसलिये भी कि यहाँ इनके परिवहन में कठिनाई होती है, जनसंख्या का अभाव है और जलवायु संबंधी दशाएं प्रतिकूल पाई जाती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारा समृद्ध खनिजयुक्त क्षेत्र जिसमें खनिज सापेक्ष तथा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं, प्रायद्वीपीय भारत के पठारों और निम्न पहाड़ियों के प्राचीन खादर शैल संरचनाओं के अन्तर्गत हैं।

भारतवर्ष लौह अयस्क, मैंगनीज, अभ्रक, बाक्साइट में समृद्ध है और सीमेंट बनाने में काम आने वाले खनिजों, जैसे डोलोमाइट तथा चूना पत्थर आदि में आत्मनिर्भर है। यह क्रोमाइट, संगमरमर तथा अन्य इमारती पत्थरों, सोडियम लवणों एवं बहुमूल्य पत्थरों में भी आत्मनिर्भर है। खनिज पाये जाने के ज्ञान के विद्यमान स्तर के आधार पर, यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष तांबा, लेड, जिंक, टिन, निकिल, टंग्सटन आदि में अधिक समृद्ध नहीं है। इन खनिजों की माँग विदेशों में आयात करके पूरी की जाती है।

वास्तव में लौह अयस्क, हमारे आधारभूत उद्योग का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कच्चा पदार्थ है। भारतवर्ष में लौह अयस्क का 1916.6 करोड़ टन का आकलित निचय पाया जाता है। यह विश्व के कुल निचय का लगभग 20 प्रतिशत है। इस प्रकार, लौह अयस्क के निचय में भारतवर्ष का

स्थान सोवियत रूस के बाद दूसरा है। इस निचय का करीब 68.17 प्रतिशत हेमेटाइट है और शेष मैग्नेटाइट है। अन्य प्रकार के लौह अयस्क पता कीजिये। लौह अयस्क का वितरण मुख्यतः भारत के प्रायद्वीपीय भाग में पाया जाता है। यहाँ पर कुछ बहुत ही स्पष्ट लौह अयस्क की पेटियाँ पाई जाती हैं। बिहार-उड़ीसा पेटी जिसमें गुरूमहिषानी, बादामपहाड़ तथा बराजामदा के लौह निक्षेप सम्मिलित हैं, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण लौह अयस्क धारी मेखला है। एक अन्य पेटी मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में अवस्थित है। यह वास्तव में बस्तर, दुर्ग, चन्द्रपुर पेटी है जिसमें बस्तर के बैलाडिला, डिंग के डाली-रझारा तथा लोहारा-पिपलगाँव, और पूर्वी महाराष्ट्र में पड़ने वाले सूरजगढ़ के लौह अयस्क निक्षेप सम्मिलित हैं। तृतीय महत्त्वपूर्ण पेटी कर्नाटक में अवस्थित है, और इसमें जो महत्त्वपूर्ण खानें पाई जाती हैं वे बेलारी-चित्रा, दुर्ग-तुमकुर और चिकमंगलूर जिलों में स्थित हैं। लौह अयस्क वास्तव में गोआ और महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में भी पाया जाता है। प्रायद्वीपीय भारत के धारवाड़ और कुड्डप्पा तन्त्रों में मैग्नेटाइट लौह अयस्क मिलता है। कर्नाटक के कुद्रेमुख निक्षेप बड़े महत्वपूर्ण निक्षेप हैं। लौह-अयस्क के निक्षेप तमिलनाडु के सेलम, उत्तरी आर्कोट तथा तिरूचिरापल्ली जिलों में और केरल में कोज़ीकोडे जिले में पाये जाते हैं।

भारतवर्ष ने सन् 1981 में 4.2 करोड़ टन लौह अयस्क उत्पन्न किया था, जो सन् 1986 में बढ़कर 5.2 करोड़ टन हो गया था। परन्तु सन् 1987 और 1988 में लौह अयस्क के उत्पादन ने एक उपांत ह्रास प्रदर्शित किया, जो क्रमश 5.1 और 4.9 करोड़ टन था। यदि देखा जाये तो यह सन् 1951 की तुलना में पर्याप्त वृद्धि थी, क्योंकि उस वर्ष भारतवर्ष ने 0.37 करोड़ टन लौह अयस्क उत्पन्न किया था। हमारे अपने बढ़ते हुए लोहे व इस्पात उद्योग में लौह अयस्क की बहुत अधिक माँग रहती है। विदेशी मुद्रा अर्जित करने के उद्देश्य से, भारतवर्ष लौह अयस्क विदेशों को निर्यात भी कर रहा है। लौह अयस्क का निर्यात करने वाले प्रमुख बन्दरगाह विशाखापट्टनम, पारादीप, मारमागाओ तथा मैंगलोर हैं।

वास्तव में मैंगनीज एक बड़ा महत्त्वपूर्ण खनिज है, जिसका उपयोग लोहे और इस्पात की रचना में किया जाता है। इनसे संबधित वस्तुओं के विनिर्माण में यह खनिज, एक आधारभूत कच्चे पदार्थ के रूप में कार्य करता है। सन् 1983 के आकलन के अनुसार भारतवर्ष में मैंगनीज का कुल निचय 15.8 करोड़ टन था। सन् 1988 में इस देश ने 13.24 लाख टन मैंगनीज का उत्पादन किया था। मैंगनीज अयस्क के समृद्ध निक्षेप आन्ध्र प्रदेश, गोआ, गुजरात, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, बिहार, उड़ीसा और राजस्थान में पाये जाते हैं।

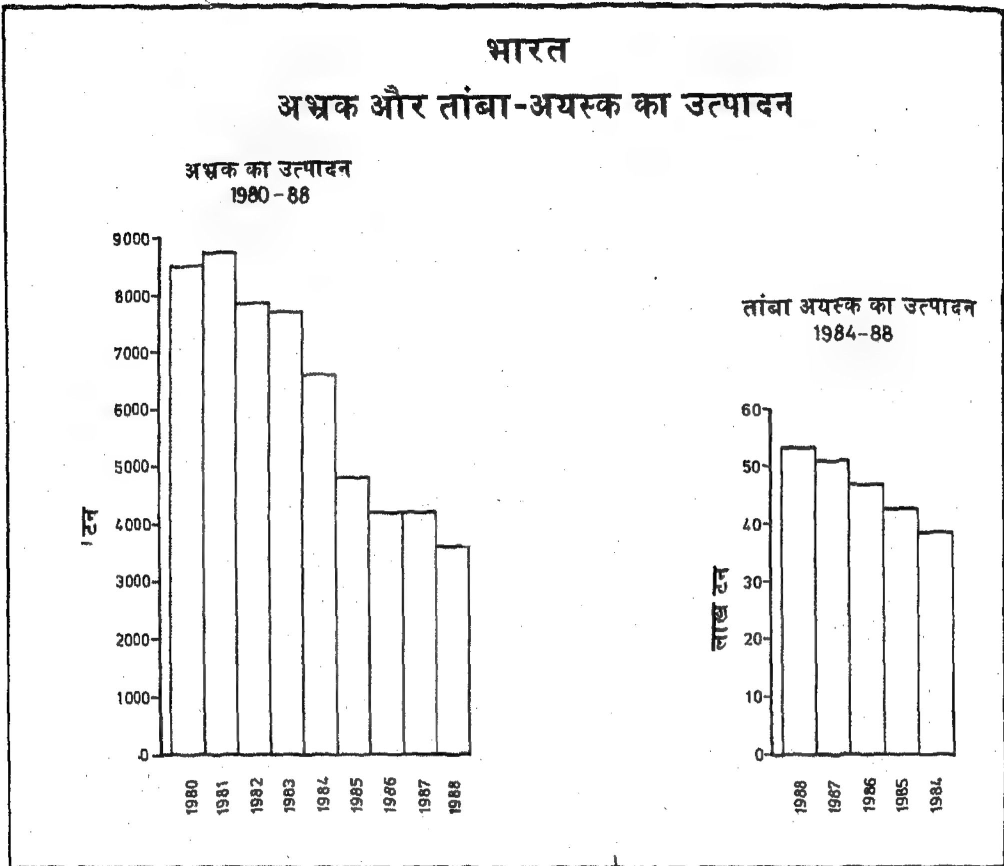
उड़ीसा में मैंगनीज सुन्दरगढ़ और केन्दूझार जिलों में गोडाइट निक्षेप तथा कालाहंडी व कोरापुट जिलों में कोडुराइट तथा खोंडोलाइट निक्षेपों से प्राप्त होता है। मैंगनीज वास्तव में उन लेटेराइटी निक्षेपों से भी खनन किया जाता है, जो बोलनगिर तथा संबलपुर जिलों में मिलते हैं। बिहार में मैंगनीज निक्षेप सिंहभूम जिले में पाये जाते हैं। मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की मैंगनीज मेखला परस्पर एक दूसरे से जुड़ी हुई है। इस मेखला के अन्तर्गत मध्य प्रदेश के बालाघाट और छिंदवारा जिले और महाराष्ट्र के नागपुर तथा

भंडारा जिले हैं। निम्न श्रेणी के मैंगनीज-अयस्क, बिलासपुर (मध्य प्रदेश) और रत्नागिरी में पाये जाते हैं। आन्ध्र प्रदेश में मैंगनीज एक ऐसी मेखला में पाया जाता है, जिसका विस्तार श्रीकाकुलम और विशाखापट्टनम जिलों के मध्य है। कर्नाटक में मैंगनीज के प्रमुख निक्षेप उत्तरी कनारा, शिमोगा, बेलारी, चित्रदुर्ग तथा तुमकुर जिलों में पाये जाते हैं। इस अयस्क के अन्य उत्पादक गोआ, पंचमहल, गुजरात राज्य का वदोदरा जिला तथा राजस्थान का बांसवाड़ा जिला है।

सन् 1986 में इसका उत्पादन 13 लाख टन अंकित किया गया था। यही प्रवृत्ति सन् 1988 तक बनी रही। सन् 1986 में उड़ीसा का योगदान, देश के सम्पूर्ण उत्पादन का 39.12 प्रतिशत था। इसी वर्ष देश का उत्पादन 4.9 लाख टन अभिलिखित किया गया था। मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र मेखला का उत्पादन, देश में कुल मैंगनीज उत्पादन का 39 प्रतिशत था। इस प्रकार देश में मैंगनीज के कुल उत्पादन का करीब तीन चौथाई भाग उड़ीसा, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र से प्राप्त होता है। वास्तव में मैंगनीज की प्रमुख आन्तरिक मांग फेरो-मैंगनीज, लोहा व इस्पात, शुष्क बैटरी तथा रसायन उद्योगों में रहती है। भारतवर्ष के कुल उत्पादन के तीन चौथाई भाग का उपभोग सन् 1985 में देश में ही हो गया था। शेष करीब एक-चौथाई भाग जापान, फ्रांस, ब्रिटेन, नार्वे तथा स्वीडन आदि देशों को निर्यात कर दिया गया था।

भारतवर्ष में अभ्रक का उपयोग प्राचीन काल से हो रहा है। उस समय यह आयुर्वेद में एक औषधि के रूप में उपयोग की जाती थी। विद्युत उद्योग के विकास के साथ अभ्रक का उपयोग नाना प्रकार की वस्तुओं की रचना में किया जाने लगा। वास्तव में विद्युतरोधी गुणों ने इसको, विद्युत और इलेक्ट्रॉनिक उद्योग के लिए बहुमूल्य खनिज बना दिया है। यह उच्च वोल्टेज को सहन कर सकता है और निम्न शक्तिधारी कारक भी है। भारतवर्ष में अभ्रक की तीन किस्में पाई जाती हैं—मस्कोवाईट, फ्लोगोपाईट तथा बायोटाइट। अभ्रक का अधिकांश उत्पादन बिहार, आन्ध्र प्रदेश तथा राजस्थान से प्राप्त होता है। बिहार में अभ्रक एक ऐसी मेखला में पाया जाता है जो 150 किलोमीटर लम्बी और 32 किलोमीटर चौड़ी है, तथा जिसका विस्तार गया से हजारीबाग जिले तक है। बिहार में अभ्रक उत्पादन के लिए कोडरमा एक बहुत ही सुप्रसिद्ध जगह है। भारत में अभ्रक के कुल उत्पादन का 50 प्रतिशत से अधिक भाग बिहार से प्राप्त होता है। आंध्र प्रदेश के गुंटुर जिले में स्थित नैलोर अभ्रक-खनन का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। राजस्थान में अभ्रक उत्पादी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में, अजमेर जिले की बियावर-अजमेर मेखला, भीलवाड़ा मेखला तथा डूंगरपुर-बांसवाड़ा मेखला हैं। इनके अतिरिक्त टोंक मेखला और उदयपुर जिले में कौंथल मेखला भी प्रसिद्ध है। कुछ अभ्रक महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु में भी निकाला जाता है।

भारतवर्ष में सन् 1970 और 1980 के दशकों में अभ्रक के उत्पादन ने अवपाती प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। सन् 1976 में इसका कुल उत्पादन 9,494 टन था। किन्तु सन् 1987 में यह घटकर 4,299 टन रह गया। वास्तव में इसके उत्पादन में जो ह्रास हुआ, वह अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इसकी माँग कम हो जाने के कारण हुआ। पहले अभ्रक का कोई पूरक-पदार्थ नहीं था, परन्तु अब प्लास्टिक



चित्र 1.6 भारत—अभ्रक और तांबा—अयस्क का उत्पादन

तथा संश्लेषित अभ्रक जैसे पदार्थ विकसित कर लिए गये हैं।

बाक्साइट वास्तव में अल्युमिनियम बनाने का एक महत्त्वपूर्ण कच्चा पदार्थ है। यह कोई विशिष्ट खनिज नहीं है बल्कि एक ऐसी शैल है जिसमें मुख्यतः हाइड्रेटेड अल्युमिनियम आक्साइड्स होते हैं। यह गुलाबी रंग का मृत्तिका सदृश पदार्थ है, जिसका रंग उसमें उपस्थित लौह अंश पर निर्भर करता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि भारतवर्ष में बाक्साइट का कुल निचय 23.2 करोड़ टन है। इस देश में प्रमुख बाक्साइट उत्पादी राज्य मध्य प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और गोआ है। उत्पादन महत्ता की दृष्टि से भी इनका क्रम इसी प्रकार है। मध्य प्रदेश के प्रमुख बाक्साइट उत्पादी क्षेत्रों में शाहदोल जिले का अमरकंटक पठार-क्षेत्र, दुर्ग मंडल की मैकाल पहाड़ियाँ तथा बालाघाट जिला, सरगूजा का पठारी प्रदेश, रायगढ़,

बिलासपुर तथा जबलपुर का कटनी क्षेत्र प्रसिद्ध है। बिहार में प्रमुख बाक्साइट निचय, राँची और पलामू जिलों में पाये जाते हैं। गुजरात के बाक्साइट उत्पादी क्षेत्रों में जामनगर, कैरा, सबरकंठ, कच्छ और सूरत उल्लेखनीय हैं। महाराष्ट्र में बाक्साइट का अवशोषण बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले यह थाना जिले में प्रारम्भ किया गया था, परन्तु अब इसका खनन कोलाबा, रत्नगिरी और कोल्हापुर जिलों में किया जाने लगा है। कर्नाटक में बाक्साइट के प्रमुख निक्षेप बेलगाँव जिले में पाये जाते हैं, इस खनिज के निक्षेप तमिलनाडु के नीलगिरी, सेलम, मदुरे और कोयम्बटूर जिलों में भी मिलते हैं। उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में भी इस खनिज के कुछ निक्षेप पाये जाते हैं। जम्मू और कश्मीर के पूँच और ऊधमपुर जिलों में भी उच्च श्रेणी के बाक्साइट अयस्क पाए जाते हैं। उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश और केरल में भी कुछ बाक्साइट निक्षेप पाये गये हैं।

बाक्साइट के उत्पादन में गत वर्षों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। सन् 1951 में यह केवल 68,120 टन था, जो सन् 1987 में बढ़कर 2736 हजार टन हो गया। भारत में मध्य प्रदेश सबसे बड़ा उत्पादक राज्य है। देश के कुल बाक्साइट उत्पादन में इसका योगदान करीब 30 प्रतिशत है। इसके बाद बिहार का स्थान है, जिसका योगदान 29 प्रतिशत है। इसी क्रम में गुजरात का 19.3 प्रतिशत और महाराष्ट्र का 17 प्रतिशत योगदान है। पहले इटली भारतीय बाक्साइट का प्रमुख आयातक देश था, परन्तु अब संयुक्त अरब अमीरात तथा साउदी अरब इस खनिज को आयात करने वाले प्रमुख देश हो गये हैं। वास्तव में बाक्साइट की प्रमुख आंतरिक माँग अल्युमिनियम रिफ्रैक्टरी तथा रसायन उद्योगों में रहती है। बाक्साइट को अल्युमिनियम उद्योग के स्थल तक परिवहन करना पड़ता है, क्योंकि यह उद्योग शक्ति-संयंत्रों के निकट उपस्थित है। वास्तव में अल्युमिनियम उद्योग अत्यधिक शक्ति-गहन उद्योग है।

तांबा एक आघात वर्धनीय (मैलियेबल) और तन्य (डक्टाइल) धातु है। यह वास्तव में अलौह भी है। भारतवर्ष में तांबा अयस्क निक्षेपों का अभाव है। इस देश में तांबा अयस्क का आकलित निचय लगभग 57.8 करोड़ टन है, इसमें धातु-अंश करीब 64 लाख टन बतलाया जाता है। बिहार का सिंहभूम जिला, एक प्रमुख तांबा अयस्क उत्पादी क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त संथाल परगना हजारीबाग, पलामू और गया में भी कुछ तांबा अयस्क निक्षेप पाये जाते हैं। राजस्थान में तांबा खेतरी-सिंघाना मेखला (झुनझुनु) के विस्तृत क्षेत्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त अलवर में दरीबा क्षेत्र, उदयपुर में दिलवाड़-करोवली क्षेत्र और भीलवाड़ा जिले में अगुचा-रामपुरा क्षेत्र भी तांबा खनन के लिए प्रसिद्ध है। मध्य प्रदेश में बालाघाट एक महत्त्वपूर्ण तांबा-अयस्क उत्पादी जिला है। आन्ध्र प्रदेश में खम्मन, गुंटुर और करनूल जिले, कर्नाटक में चित्रा, दुर्ग तथा हसन जिले, और महाराष्ट्र में चंद्रापुर जिले में भी तांबा अयस्क के निक्षेप पाये जाते हैं।

तांबा अयस्क उत्पादन ने, एक सतत वृद्धि की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। सन् 1951 में यह उत्पादन केवल 3 लाख 74 हजार टन था जो सन् 1988 में बढ़कर 53.25 लाख टन हो गया था। तांबा अयस्क के खनन और प्रगलन कार्यों का प्रबंध "हिन्दुस्तान कॉपर लिमिटेड" करती है, जो एक

सार्वजनिक उपक्रम है।

स्वर्ण एक बहुमूल्य धातु है, जो स्वर्णमय शिरानिक्षेपों (लोड्स) में पाई जाती है। इसके कुछ अंश हमारे देश की कई नदियों के बालू में भी पाया जाता है। भारतवर्ष में कुल स्वर्ण अयस्क निचय की आकलित मात्रा 148.5 लाख टन है, जिसमें स्वर्ण अंश 81.06 हजार किलोग्राम बतलाया जाता है। कर्नाटक स्वर्ण का प्रमुख उत्पादक है। कोलार स्वर्ण क्षेत्र में बहुत ही सुप्रसिद्ध खानें हैं। हट्टी नामक स्वर्ण क्षेत्र, कर्नाटक के रायचूर जिले में उपस्थित है। रामगिरी और येपामन्ना स्वर्ण क्षेत्र आन्ध्र प्रदेश के रायलसीमा प्रदेश के अनन्तपुर जिले में उपस्थित हैं। सन् 1988 में भारतवर्ष ने 1,900 किलोग्राम स्वर्ण उत्पन्न किया था। प्रारम्भ से ही इसके उत्पादन में उतार-चढ़ाव की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई हैं।

अन्य महत्त्वपूर्ण अलौह धात्विक खनिज लेड, जिंक और चाँदी हैं। लेड और जिंक के कुल निचय का आकलन 35.85 करोड़ टन लगाया गया है। धातु अंश के सन्दर्भ में लेड का कुल निचय 0.5 करोड़ टन और जिंक का 1.6 करोड़ टन है। राजस्थान लेड और जिंक उत्पन्न करने में सर्वप्रथम है। उदयपुर जिले की ज़वार खानें देश की सबसे महत्त्वपूर्ण खानें हैं। आन्ध्र प्रदेश के कडप्पा जिला, गुजरात के बानसकंठा, बदोदरा, सूरत और पंचमहल, मेघालय तथा सिक्किम में लेड और जिंक निक्षेपों के कुछ अन्य क्षेत्र हैं।

सन् 1988 में भारतवर्ष ने लेड का कुल उत्पादन लगभग 40 हजार टन तथा जिंक का 1.12 लाख टन अभिलिखित किया था। हमारे देश में लेड और जिंक दोनों का अभाव है। इस अभाव को आस्ट्रेलिया तथा कनाडा से आयात द्वारा पूरा किया जाता है।

चाँदी राजस्थान के उदयपुर में स्थित ज़वार खानों तथा भीलवाड़ा जिले में अगुचा-रामपुरा के लेड और जिंक अयस्कों से प्राप्त की जाती है। सन् 1988 में भारतवर्ष ने 44.5 हजार किलोग्राम चाँदी उत्पन्न की थी।

लवण एक अन्य महत्त्वपूर्ण खनिज है, जिसका उपयोग रसायन उद्योग में होता है। सोडियम क्लोराइड, जिसे सामान्य लवण कहते हैं खाने योग्य होता है, और इसका उपभोग खाद्य पदार्थ के रूप में किया जाता है। लवण समुद्री जल, लवण-जल स्रोतों, कुओं तथा राजस्थान के शुष्क प्रदेशों की झीलों में लवण-क्यारियों से प्राप्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त लवण गुजरात और हिमाचल प्रदेश के मंडी क्षेत्र से प्राप्त खनिज लवण (सेंधानमक) से भी मिलता है । समुद्री जल महाराष्ट्र, गुजरात और तमिलनाडु में लवण का मुख्य स्रोत है। राजस्थान में लवण उत्पादन के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र, सांभर, दिदवाना तथा पचपाद्र हैं।

भारतवर्ष में महत्त्वपूर्ण खनिजों की स्थिति दर्शाने वाले मानचित्र को अपने एटलस में देखिए। प्रमुख खनिज क्षेत्रों को पहचानिये। खनिजों के वितरण (जैसा कि मानचित्र से विदित है) की प्रमुख विशेषताएं बतलाइये।

संसाधनों का संरक्षण

प्राकृतिक संसाधन एक सामान्य सम्पत्ति है, जिस पर भूतकाल की पीढ़ियों का भी अधिकार था, और हमारी भविष्य की पीढ़ी भी इन संसाधनों को हमसे वंशगत प्राप्त करेंगी। संसाधनों के लिए हमारी लालच, और एक बृहत् पैमाने पर इनका शोषण करने की हमारी विशाल प्रौद्योगिक क्षमता

ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि जहाँ से हमने, भविष्य के भंडार को खत्म करना प्रारम्भ कर दिया है। जिस गति से संसाधनों का अवशोषण हो रहा है, उसके परिणामस्वरूप इन संसाधनों की समाप्ति हो सकती है। इसी कारण संसाधनों का संरक्षण बहुत आवश्यक है। इससे आर्थिक विकास में कोई बाधा नहीं आयेगी, बल्कि वह सततरूप से होता रहेगा।

भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है। कृषि-पैदावार बढ़ाने के लिए मृदा और जल का संरक्षण बहुत ही आवश्यक है। मृदा के सतत उपयोग से उसकी उत्पादकता में ह्रास होने लगता है। अपरदन भी एक भयंकर संकट है। यह तो मृदा-आवरण को ही हटा देता है। मृदा-संरक्षण सामरिकी द्वि-पक्षीय होनी आवश्यक है। इस दृष्टि से खादों, जैव-रासायनिक उर्वरकों का उपयोग, फसलों के वैज्ञानिक आवर्तन एवं परती छोड़ने की विधि कुछ ऐसी आवश्यक विधियाँ हैं, जो वास्तव में मृदा-उत्पादकता को बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। जल या वायु प्रवाह द्वारा मृदा-आवरण के विस्थापन को रोकना भी बहुत जरूरी है। अपरदन संकट पहाड़ी क्षेत्रों तथा शुष्क प्रदेशों में और भी अधिक भयंकर होते हैं। कुछ प्रदेश जहाँ मृत्तिका स्थलाकृति पाई जाती है, वे भी आसानी से अपरदन के शिकार हो सकते हैं। भारतवर्ष के पहाड़ी प्रदेशों में मृदा-अपरदन की रोकथाम वेदिकाएँ बनाकर, समोच्च जुताई करके तथा अवनलिकाओं को अवरूद्ध करके की जाती है। ढालों पर मृदा-अपरदन को रोकने में, वन-रोपण भी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। रक्षक-मेखला का रोपण, ठूंठी-पलवार लगाना तथा अतिचारण पर नियंत्रण आदि कुछ ऐसी विधियां हैं, जिनके उपयोग से शुष्क प्रदेशों में मृदा-अपरदन को रोका जा सकता है।

जल एक चक्रीय संसाधन है, जिसका उपयोग इसे स्वच्छ बना कर बार-बार किया जा सकता है। जल को संरक्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि इसका न्यायिक उपयोग करने पर बल दिया जाये। सिंचाई तंत्र में जल प्रबंध, जल के संरक्षण में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। नहर-सिंचाई के द्वारा अति सिंचाई के कारण, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब और हीराकुंड कमांड क्षेत्र में कई स्थानों पर जलाक्रान्ति हो गई है। नलकूपों द्वारा भूमिगत जल को अधिक मात्रा में निकालने का परिणाम यह हुआ है, कि हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कई गाँवों में अन्तर्भौम जल-स्तर काफी नीचा हो गया है। शुष्क क्षेत्रों में जहाँ कहीं भी सिंचाई के लिये जल लाया गया है, वहाँ लवणीय-क्षारीय भू-क्षेत्र उत्पन्न हो गये हैं, और वहाँ की मृदा अनुपजाऊ हो गई है। जल का दुरूपयोग रोका जाना चाहिये। यद्यपि जल सार्वत्रिक (सर्वत्र मिलने वाला) संसाधन है, फिर भी यह हर स्थान पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है। भारतवर्ष में आज भी बहुत से गाँव ऐसे हैं जहाँ पेयजल नहीं मिलता। जल के संरक्षण और उसके दुर्व्यय को कम करने के लिये, यह आवश्यक है कि जलाशयों में औद्योगिक विसर्जन पर नियंत्रण किया जाये।

अतिउपयोग द्वारा वनों का जो अपक्षय होता है उसके कारण परितंत्र में श्रृंखला-अभिक्रिया होने लगती है। वनोन्मूलन से मृदा अपरदन तीव्र हो जाता है। यह जल के अन्तर्भौम प्रवाह को भी प्रतिकूलतः प्रभावित करता है। यद्यपि यह एक नवीकरण योग्य संसाधन है, फिर भी इसके

पुनर्जनन में काफी समय लगता है। यदि लकड़ी का कोई पूरक-पदार्थ मिल जाये, तो वनों पर पड़ने वाले माँग के दबाव को घटाया जा सकता है। सामाजिक-वानिकी और फार्म-वानिकी पर बहुत अधिक बल दिया जा रहा है, जिससे ग्रामीण समुदाय को चारे और ईंधन की पूर्ति बराबर होती रहे। ढालों पर वन-रोपण जल-प्रवाह को नियंत्रित करने तथा मृदा संरक्षण की एक बहुत ही उत्तम और प्रभावी विधि है। इससे वास्तव में बाढ़ की भयानकता को भी रोका जा सकता है। वनों के लुप्त होने का अर्थ यह है कि वन्य प्राणियों तथा पौधों की अनेक वन्य किस्मों का विलुप्त होना जिसके कारण आनुवांशिक निचय का भयकर रूप से पतन होने लगता है।

खनिज संसाधन वास्तव में समाप्त होने योग्य संसाधन हैं। खनन-प्रौद्योगिकी में प्रौढ़ता आने के साथ-साथ इनके अवशोषण को भी तीव्र कर दिया गया है। क्या हम उस स्थिति के बारे में सोच सकते हैं कि जब हमारे पास खनिज नहीं होंगे? इसके क्या परिणाम होंगे? भारत में कई खनिजों का अवशोषण विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए होता है। विदेशी मुद्रा की जितनी ही अधिक आवश्यकता होगी, किसी विशेष खनिज के अवशोषण की दर उतनी ही अधिक ऊँची होगी। खनिज संसाधनों का संरक्षण उसी समय हो सकता है, जब कि हम खनन और सज्जीकरण प्रौद्योगिकी में कुशलता लायें। कुछ धातुओं जैसे—लोहा, अल्युमिनियम, ताँबा तथा टिन आदि के पुनः चक्रण से उसके अवशिष्ट को घटाने में मदद मिल सकती है। जापान इसका एक बहुत उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। वह स्क्रैप लोहे को खरीद लेता है और अपने लोहे व इस्पात उद्योग के लिए उसका पुनःचक्रण करता है। यह कहा जाता है कि बचाये हुए संसाधन ही निर्मित संसाधन हैं। दुर्लभ खनिजों को उसी समय बचाया जा सकता है, जब कि इनके स्थान पर अन्य मिलता जुलता खनिज, जो बहुलता से पाया जाता है, उपयोग में लाया जाये। उदाहरण के लिये विद्युत उद्योग में ताँबे के स्थान पर अब अल्युमिनियम का उपयोग विस्तृतरूप से किया जाने लगा है। एक अन्य उदाहरण भारतीय रेल का है, जो डीज़ल इंजनों के स्थान पर विद्युत इंजनों का उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ा रहा है। इस प्रकार विद्युत ने तेल और कोयला दोनों को बचाने में बड़ी सहायता की है। ठीक इसी प्रकार से अपारम्परिक ऊर्जा संसाधनों के विकास से, कोयला, तेल तथा लकड़ी के संरक्षण में भी मदद मिलेगी। संश्लेषित उत्पाद भी, उत्पादन के प्राकृतिक साधनों पर पड़ने वाले दाब को कम करने में सहायक सिद्ध होंगे। इसके लिये विस्तृत अनुसंधान और विकास-कार्यक्रमों के जरिए प्रौद्योगिकी का विकास बहुत ही आवश्यक है। हमारी पदार्थ-आधारित सभ्यता का जीवित रहना इस बात पर निर्भर है, कि प्रकृति को मूलरूप से बनाये रखने और अपने संसाधनों को संरक्षित रखने की, हमारी क्षमता कितनी है।

अभ्यास

समीक्षा प्रश्न

1.निम्नलिखित प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजियेः

(i) प्राकृतिक संसाधनों की संकल्पना संस्कृति-बद्ध है। चर्चा कीजिये?
(ii) भारत के उत्तरी मैदानों से वनों के विलुप्त होने के तीन कारण बताइए?
(iii) भारत के तेल संसाधन, प्रायद्वीपीय प्रदेश के पूर्वी तथा पश्चिमी उपान्तों पर क्यों स्थित हैं?
(iv) "बाम्बे हाई" और "सागर सम्राट" से आप क्या समझते हैं? हमारे राजस्व अभिलेखों के अनुसार, प्रमुख भू-उपयोग वर्ग कौन-कौन से हैं?
(v) ताबा तथा अल्युमिनियम के प्रमुख उपयोग क्या-क्या हैं?
(vi) परमाणु ऊर्जा के क्या-क्या संकट और कमियाँ हैं?
(vii) आपके विचार से प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण क्यों आवश्यक है?

2. अन्तर बतलाइयेः

(i) लौह और अलौह खनिज।
(ii) धात्विक और अधात्विक खनिज।
(ii) जीविका के प्राकृतिक साधन तथा उत्पादन के प्राकृतिक साधन।
(iv) शुद्ध बोया गया क्षेत्र तथा कुल बोया गया क्षेत्र।
(v) अलवण जल (ताजे पानी) मात्स्यकी और गभीर सागर मात्स्यकी।
(vi) समुद्री नमक और सेंधा नमक।
(vii) चालू परती भूमि तथा पुरानी परती भूमि।

3. भारतवर्ष में बढ़ती कृषि-उत्पादकता के लिए सिंचाई क्यों आवश्यक है? इस देश में सिंचाई के विकास के लिए कुछ अनुकूल तथा प्रतिकूल दशाएँ बतलाइये।
4. "भारतवर्ष प्राकृतिक संसाधनों में निर्धन नहीं है, बल्कि प्रौद्योगिकी में निर्धन है।" विचार व्यक्त कीजिये।
5. भारत में जलविद्युत शक्ति के विकास के लिये पाई जाने वाली अनुकूल दशाओं की चर्चा, उपयुक्त उदाहरणों सहित कीजिये।
6. भारत में पेट्रोलियम के उत्पादन की प्रवृत्तियों की चर्चा कीजिये।

7. कारण बतलाइयेः

(i) भारत के पास लम्बी तटरेखा है, फिर भी वह मात्स्यकी का विकास नहीं कर पाया।
(ii) भारत में गौ-संख्या बहुत अधिक है, किन्तु उसकी उत्पादकता बहुत कम है।

(iii) भारत के पास शुद्ध बोया गया क्षेत्र विशाल है, किन्तु एक बार से अधिक बोये जाने वाले क्षेत्र बहुत सीमित हैं।

(iv) भारत का पश्चिमी भाग सूखा-ग्राही है, जबकि पूर्वी भाग बाढ़-ग्राही है।

8. निम्न में से प्रत्येक के लिए एक तकनीकी शब्द दीजिये।

(i) नियंत्रित दशाओं के अंतर्गत परमाणु विस्फोटन द्वारा प्राप्त ऊर्जा।
(ii) गिरते हुए जल से टरबाइनों द्वारा उत्पन्न की गई ऊर्जा।
(iii) शुद्ध बोये हुए क्षेत्र से विभाजित कुल बोया गया क्षेत्र।
(iv) शुद्ध सिंचित क्षेत्र से विभाजित कुल सिंचित क्षेत्र।
(v) एक हेक्टेयर क्षेत्रफल पर एक मीटर की गहराई तक स्थिर जल का कुल आयतन।

क्रिया-कलाप

9. "मानव सभ्यता के लिए प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण आवश्यक है।" इस विषय पर अपनी कक्षा में एक वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन कराइये?

10. भारत के मानचित्र पर निम्नलिखित दिखलाइए :

(i) लौह अयस्क और कोयला निक्षेप तथा लोहे एवं इस्पात के संयंत्र
(ii) तेल-परिष्करण शालाएँ तथा एच.बी.जे. पाइप लाइन।
(iii) परमाणु शक्ति केन्द्रों की अवस्थिति।
(iv) लेड, जिंक और ताँबा निक्षेप।

11. आसानी से उपलब्ध हो जाने वाले भारत के नवीनतम 'स्टैटिस्टिकल ऐबस्ट्रेक्ट' से निम्नलिखित आँकड़े प्राप्त कीजिये, और उन्हें ग्राफ द्वारा दिखलाइए।

(i) गत पाँच वर्षों में कोयले का उत्पादन।
(ii) गत दस वर्षों में विद्युत जनन की संस्थापित क्षमता।
(iii) गत दस वर्षों में लौह अयस्क का उत्पादन।

अध्याय 2

भारतीय कृषि के प्रमुख लक्षण

भारतवर्ष में कृषि में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है और उत्पादन, उत्पादकता, शस्य-स्वरूप तथा अभ्यारोपित उपयोग के स्तर में काफी विकास हुआ है। भारतवर्ष में विशाल भूमि-क्षेत्र, कृष्य-भूमि का उच्च प्रतिशत, समृद्ध मृदा, दीर्घ जलवायवी परास और एक लम्बा वर्धन-काल पाया जाता है। पर्यावरणीय कारक एक विस्तृत शस्य-परास है जिसमें शस्यों की विभिन्न किस्में, जैसे— अनाज, दालें, तिलहन तथा औद्योगिक फसलें उदाहरणस्वरूप चाय, जूट, कपास और गन्ना उत्पन्न किये जा सकते हैं। कुल श्रमिक-शक्ति का लगभग 70 प्रतिशत भाग ऐसा है, जो कृषि-कार्य में लगा हुआ है और उसका शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में लगभग 36 प्रतिशत का योगदान है। देश से होने वाले कुल निर्यात के एक बृहत हिस्से के रूप में भी इसका एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। कृषि-उत्पादन से एक ऐसे आधार की रचना होती है, जिससे अन्य प्रक्षेत्रों का विकास होता है। इसीलिए समृद्ध कृषि-प्रक्षेत्र से ग्रामीण क्षेत्रों में उच्चतर क्रय-शक्ति निश्चित रूप से उत्पन्न हो जाती है और औद्योगिक माल की माँग भी बढ़ती जाती है। दूसरी ओर यदि कृषि-प्रक्षेत्र में किसी भी किस्म की मंदी होती है, तो उसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में क्रय शक्ति घट जाती है और इसके साथ ही साथ औद्योगिक प्रक्षेत्र में भी मंदी आ जायेगी। भारतीय कृषि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यहाँ मात्रा और गुण के सन्दर्भ में प्रतिवर्ष फसलों की अनिश्चितता पाई जाती है। किसानों को अंतिम क्षण तक अपनी फसलों की सफलता के संबंध में विश्वास नहीं होता। जब कभी भी फसल मामूली होती है, तो वह पर्याप्त उत्पादन प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरी ओर यदि फसल भरपूर होती है, तो ऐसी दशा में किसानों को लाभकारी कीमत नहीं मिल सकती, क्योंकि माँग की अपेक्षा पूर्ति बढ़ जाती है।

कृषि का प्रमुख कार्य यह है कि जनसंख्या को भोजन प्रदान करे, कृषि-आधारित उद्योग धंधों को औद्योगिक कच्चा माल दे और विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के उद्देश्य से देश के निर्यात में अपना योगदान दे। भारत ने खाद्यान्नों के उत्पादन में अत्यधिक विस्तार किया है। इसका उत्पादन सन् 1949-50 में केवल 549.2 लाख टन था, जो सन् 1983-84 में बढ़कर 1,523.7 लाख टन हो गया। सन् 1987-88 में सूखा की स्थिति के बावजूद भी देश में, खाद्यान्न का उत्पादन 1,384 लाख टन था। सन् 1950 के प्रारम्भ की अवधि में प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता लगभग 395 ग्राम प्रतिदिन थी, जो अब बढ़कर लगभग 478

ग्राम प्रतिदिन हो गई है। खाद्यान्न उत्पादन की कुल मात्रा में, जो वृद्धि हुई है, उसका कारण 1960-70 के मध्य, शुद्ध बोये हुए क्षेत्र का विस्तार बतलाया जाता है। यह विस्तार मुख्यत: उत्पादकता में वृद्धि के कारण हुआ, विशेषतः उस समय जब कि सिंचाई और उर्वरक प्रौद्योगिकी का श्रीगणेश हुआ था। कृषि-अवसंरचनाओं जैसे—सिंचाई, शक्ति तथा ऋण की व्यवस्था ने भी निम्न-मूल्य की शस्यों के स्थान पर उच्च मूल्य की शस्यों को अधिक प्रोत्साहन दिया है। उत्पादकता के उच्चतर विभव वाली फसलें अब बोई जाने लगी हैं, विशेष तौर पर सिंचित भू-क्षेत्रों में। भारतीय कृषि के इन लक्षणों के कारण देश में अनाज की आत्म-निर्भरता का युग प्रारम्भ हो गया है, हालांकि दालों के उत्पादन में इतनी अधिक वृद्धि नहीं हो पाई। अनाज का उत्पादन 1950-51 में 424 लाख टन था, जो सन् 1887-88 में बढ़कर 1,274 लाख टन हो गया, जबकि दालों का उत्पादन इतना नहीं बढ़ पाया। सन् 1950-51 में दालों का उत्पादन 84 लाख टन था, जो सन् 1987-88 में बढ़कर केवल 110 लाख टन ही हो पाया था। उस अनुपात का पता कीजिए जिसमें अनाजों और दालों के उत्पादन में वृद्धि हुई है।

औद्योगिक फसलों के उत्पादन में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है। तिलहनों (जैसे —मूँगफली, तोरिया, सरसों, तिल, अलसी, अंडी, बीज, नाइजरसीड, कुसुम, सूर्यमुखी तथा सोयाबीन) का कुल उत्पादन सन् 1970-71 में 61.1 लाख टन था, जो बढ़कर सन् 1986-87 में 123.8 लाख टन हो गया। गत 16 वर्षों की अवधि में इसकी करीब दुगुनी वृद्धि अभिलिखित की गई थी। गन्ना, कपास और जूट ने अपने उत्पादन में इस प्रकार की सतत् प्रवृत्ति प्रदर्शित नहीं की है। सन् 1987-88 में गन्ने का उत्पादन 1,967.2 लाख टन था। शक्कर उद्योग में गन्ना एक प्रमुख कच्चा पदार्थ है। यह भार-ह्रासी कच्चा पदार्थ है, इसीलिए यह उद्योग गन्ना उत्पन्न करने वाले प्रदेश के अन्दर ही अवस्थित रहता है। भारत में कपास का उत्पादन भी बढ़ा है। कपास का सबसे अधिक उत्पादन, 87 लाख बेल, (प्रत्येक बेल का भार 170 किलोग्राम होता है), सन् 1985-86 में अभिलेखित किया गया था। परन्तु सूखा और नाशक रोगों के आक्रमणों से सन् 1986-87 और 1987-88 में इसका उत्पादन घट गया। जूट एक अन्य औद्योगिक फसल है, जिसके उत्पादन में सन् 1985-86 के बाद ह्रास हुआ है। यह ह्रास अधिकांशतः उस क्षेत्र में ह्रास के कारण हुआ जिस पर सन् 1987-88 में जूट और मेस्टा उत्पन्न किये जाते थे।

कृषि पर आधारित निर्यात की जाने वाली प्रमुख वस्तुएँ चाय, कॉफी, काजू, कच्चा कपास, खली, चावल, शक्कर, तम्बाकू और गरम मसाले हैं। काजू, कॉफी, खली, कच्ची कपास, शक्कर और तम्बाकू का उत्पादन, गत वर्ष-सन् 1986-87 की तुलना में, सन् 1987-88 में कम हो गया था। परन्तु चाय, चावल और गर्म-मसालों के निर्यात में वृद्धि हुई है। सन् 1987-88 की अवधि में इन वस्तुओं का जो कम निर्यात हुआ, उसका प्रमुख कारण देश के सम्पूर्ण भाग में सूखा की दशाओं का पर्याप्त समय तक बना रहना था। कृषि विकास की किसी भी युक्ति के अन्तर्गत यह आवश्यक होगा कि उत्पादन बढ़ाने के कदम उठाये जायें, और विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के उद्देश्य से निर्यात-योग्य आधिक्य उत्पन्न किया जाये।

भारतीय कृषि : पारम्परिक एवं आधुनिक

भारतवर्ष में कृषि जीवन-यापन की एक विधि रही है। स्वतन्त्रता के पहले यह जीवन-निर्वाह करने वाली एक गहन कृषि के रूप में व्यक्त की जाती थी। इस तथ्य से इस बात का बोध होता है कि भारतीय कृषक लघु जोतों पर भार ढोने वाले पशुओं और पारिवारिक श्रम की सहायता से कृषि करते थे। उस समय प्रौद्योगिकी आदिम थी, तथा औज़ार मामूली थे। प्रति इकाई क्षेत्र तथा प्रति श्रमिक उत्पादकता बहुत ही कम थी। रासायनिक उर्वरकों का उपयोग भी नहीं किया जाता था। विद्युत, सिंचाई तथा ऋण जैसी अवसंरचनात्मक सुविधाओं का भी अभाव था। केवल कुछ ही व्यक्ति ऐसे थे, जिनके पास अपनी भूमि थी, अधिकाँश किसान काश्तकार थे।

स्वतंत्रता के बाद भी भारत में खाद्य पदार्थ की कमी बनी रही थी। उस समय जुताई की विधियाँ पारम्परिक थीं, और उत्पादकता भी निम्न थी। मशीनीकरण का स्तर भी बहुत ही निम्न था। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद भारतीय सत्ता का प्रमुख सरोकार यह था कि भूमि-सुधारों को लागू किया जाये, भूमि-स्वामित्व प्रारूप को सही किया जाये, और जमींदारी एवं जागीरदारी प्रथा को अपनी समस्त अभिव्यक्तियों सहित समाप्त कर दिया जाये। भूमि जोत के आधार पर, कानून द्वारा अधिकतम सीमा पुनः स्थापित की गई। किसानों को भू स्वामित्व सौंपने के संबध में अनेक कदम उठाये गये। यद्यपि प्रत्येक राज्य में भूमि-सुधार नियम लागू किए गए, किन्तु प्रभावी ढंग से समानरूप से कार्यान्वित नहीं किये जा सके। जो अन्य कदम उठाये गये, उनमें कृषि-भूमि के खंडन को कम करने के उद्देश्य से भूमि-जोत की चकबंदी है। इससे एक जोत के अनेक चप्पों में खंडित होना कम हो जायेगा और कांश्तकारों को अवधि की सुरक्षा मिल जायेगी।

स्वतन्त्रता के बाद देश की विशाल जनसंख्या को खाद्यान्न प्रदान करने की प्रारम्भिक कठिनाई के कारण यह आवश्यक हो गया कि कृषि-विकास के संबध में कुछ महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ अपनाई जायें। सिंचाई के विकास के लिए, बहु-उद्देश्यीय योजना की रचना, वास्तव में कृषि-अवसंरचना की व्यवस्था करने के संबध में प्रथम कदम था। स्वतन्त्रता के पहले भी कुछ क्षेत्रों में सिंचाई विकसित की गई थी। पूर्व-योजना अवधि के दौरान विकसित कुल सिंचाई विभव 226 लाख हेक्टेयर था। यह महसूस किया गया कि विकासशील कृषि में जल एक आधारभूत वस्तु है। इसीलिए कुल सिंचाई विभव, सन् 1984-85 के अन्त तक बढ़कर 675 हेक्टेयर हो गया था। सामुदायिक विकास प्रोग्राम सन् 1952 में इस उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया था जिससे कि कृषि विकास को शामिल करते हुए सार्वजनिक विकास किया जा सके। परन्तु पिछड़ी हुई कृषि में इस प्रोग्राम का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ पाया। खाद्य पदार्थों की इतनी अधिक कमी हो गई कि भारत को पी.एल. 480 फूड प्रोग्राम में शामिल होना पड़ा। इन्टेसिव ऐग्रीकलचरल डिस्ट्रिक्ट प्रोग्राम (आई.ए.डी.पी.) सन् 1961 में पायलट आधार पर शुरू किया गया था। इसका उद्देश्य यह था कि कुछ चयनित जिलों में कृषि-उत्पादन को बढ़ाने के लिए तकनीकी ज्ञान, ऋण और कृषि-प्रौद्योगिकी का प्रसार किया जाये, जिससे कि उसका प्रदर्शित प्रभाव हो सके। बाद में इन्टेसिव ऐग्रीकलचरल एरिया प्रोग्राम (आई.ए.ए.पी) एक

नयी युक्ति के रूप में प्रारम्भ की गई, जिससे कि कृषि-विकास के साथ-साथ, मध्यम एवं लघु सिंचाई साधनों तथा उर्वरकों के उपयोग का भी विकास हो सके। बीज प्रोद्योगिकी में सन् 1980 के मध्य तक सफलता मिल चुकी थी और सन् 1987-88 में हाई ईल्डिंग वैराइटी (एच.वाई.पी.) प्रोग्राम का श्रीगणेश किया गया था। कृषि-विकास की यह युक्ति, जल उर्वरक और बीजों पर आधारित थी, और इसे पैकेज टेक्नोलॉजी या ग्रीन रिवोल्यूशन टेक्नालॉजी के नाम से भी पुकारते हैं।

उस समय से भारतीय कृषि में बहुत अधिक विकास हुआ है। इस प्रोग्राम के अंतर्गत धान, गेहूँ, ज्वार, बाजरा और मक्का है। एच.वाई.पी. के अन्तर्गत सन् 1967-68 के दौरान 18.9 लाख हेक्टेयर भूमि जोती गई थी, जो सन् 1986-87 में बढ़कर 561 लाख हेक्टेयर हो गई। उर्वरकों का उपयोग भी बढ़ा है। सन् 1960-61 में यह प्रति हेक्टेयर केवल 1.9 किलोग्राम था, किन्तु सन् 1985-86 में बढ़कर 50.41 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हो गया। हम यह देख चुके हैं कि कृषि-प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारणवश विभिन्न महत्त्वपूर्ण शस्यों के उत्पादन में वृद्धि हुई है। प्रमुख सफलता अनाज के उत्पादन में ही मिल पाई है, जहाँ तक दालों का प्रश्न है उनका उत्पादन लगभग स्थिर रहा है। इसमें कदापि संदेह नहीं कि भारतीय कृषि में पर्याप्त विकास हुआ है, किन्तु, समूचे प्रदेशों और समस्त किसान-वर्गों में यह विकास समान रूप से नहीं हो पाया है। कुछ प्रदेशों ने कृषि-विकास का एक उच्चतर स्तर प्राप्त कर लिया है, जबकि कुछ इस स्तर को इतनी तेजी से प्राप्त नहीं कर पाये। इसीलिये कृषि विकास में आज भी प्रादेशिक असंतुलन देखने को मिलता है। कृषि-विकास, जो कुछ भी भारतवर्ष में हुआ है, उससे मध्यम तथा छोटे किसानों की अपेक्षा बड़े किसानों को अधिक लाभ हुआ है, क्योंकि इनके पास ऐसे संसाधन थे, जिससे कि वे कृषि-प्रौद्योगिकी में पूंजी का निवेश कर लाभ उठा सकते थे।

आइये हम, कृषि-विकास के एक प्रादेशिक प्रारूप पर दृष्टिपात करें। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कृषि-विकास एक उच्चतर स्तर पर पहुँच चुका है। इस सम्पूर्ण प्रदेश में नहरों का एक ऐसा जाल बना हुआ है, जिसके कारण यहाँ सिंचाई का एक दृढ़ आधार पाया जाता है। देश के शुष्क भाग, जैसे— राजस्थान, गुजरात, पश्चिमी मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना एवं रायलसीमा प्रदेश और कर्नाटक पठार, उस स्तर तक कृषि-विकास नहीं कर पाए, जिस स्तर तक पंजाब आदि राज्यों ने किया है। कृषि-विकास में यह जो प्रादेशिक असमानता पाई जाती है, उसके मुख्य कारण, पर्यावरणीय अवरोध, शस्य-स्वरूप, संसाधन-अक्षयनिधि तथा निवेश की विभेदी दरें बतलाये जाते हैं। पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश राज्यों ने नई प्रौद्योगिकी को अपनाया है– सर्वप्रथम गेहूँ में तथा उसके बाद विस्तृतरूप से चावल की कृषि में। दक्षिणी राज्यों विशेषतः तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश ने उत्पादकता के उच्चतर स्तर को प्राप्त कर लिया है, किन्तु पूर्वी तथा मध्यवर्ती राज्य अधिक वृद्धि नहीं कर पाये। सन् 1980 की अवधि में पंजाब में उर्वरक का उपयोग 130 किलोग्राम/हिक्टेयर था, जब कि यह असम में 3.5 कि. ग्रा./हिक्टेयर, उड़ीसा में 10.5 कि. ग्रा./हिक्टेयर, बिहार में 20 कि. ग्रा./हिक्टेयर, मध्य प्रदेश में 11.2 कि. ग्रा./हिक्टेयर तथा

राजस्थान में 9.0 कि. ग्रा./हिक्टेयर था। पंजाब ने शस्य-क्षेत्र के प्रति 1000 हेक्टेयर भूमि पर 9 ट्रैक्टरों का उपयोग किया था। इसके बाद हरियाणा का नम्बर था, जिसने एक हजार हेक्टेयर भूमि पर 4.5 ट्रैक्टरों का उपयोग किया था। इसकी तुलना में असम, उड़ीसा, बिहार तथा मध्य प्रदेश में प्रति हेक्टेयर ट्रैक्टरों का उपयोग 0.2, 0.2, 1.0, तथा 0.8, अभिलिखित किया गया था। इसी प्रकार से पंजाब में सकल शस्य क्षेत्रफल का 99 प्रतिशत भाग सिंचित है। इसके बाद हरियाणा में यह 64.2 प्रतिशत है। इसकी तुलना में बिहार में 33.2 प्रतिशत, मध्य प्रदेश में 12.6 प्रतिशत और महाराष्ट्र में 14.1 प्रतिशत था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पंजाब में निवेश-उपयोग की तीव्रता, अन्य राज्यों की तुलना में बहुत अधिक है, जिसने पंजाब को, कृषि-विकास के क्षेत्र में अद्वितीय बना दिया है। अन्य सहायक अवसंरचनात्मक सुविधाओं, जैसे—सहकारी बैंकों, विपणीय सुविधाओं तथा ग्राम-विद्युतीकरण आदि ने भी कृषि-विकास के संपीडन में सहायता दी है। 'ऐग्रीकलचरल कास्ट्स एण्ड प्राइसेज कमीशन' ने महत्त्वपूर्ण फसलों के लिए जिन लाभकारी कीमतों की सिफारिश की है, उससे भी किसानों को उच्च मूल्यवाली फसलों को बोने के लिए अपनाने में सहायता मिली है।

नम और शुष्क भूमि कृषि

भारतवर्ष में एक दीर्घ वर्धन काल होता है, और दीप्तावलि भी पर्याप्त होती है, फिर भी शस्य-वृद्धि के लिए एक आवश्यक कारक नमी-उपलब्धता है। भारत में पौधों के लिये नमी के प्रमुख स्रोतों में से एक वर्षा है। वर्षा से कृषि-उत्पादन के समस्त प्रक्रम गतिशील हो जाते हैं। भारतीय किसानों को अन्य कोई भी वस्तु उतनी संतुष्ट नहीं करती जितनी कि मानसून की प्रथम बौछार। इसी बौछार से उसके राग मल्हार, मेले और उत्सव आदि प्रारम्भ होते हैं। मानसून वर्षा की ऋतुनिष्ठता इतनी विशिष्ट है कि नम-क्षेत्र भी शुष्क दौर के शिकार हो जाया करते हैं। इसलिये, ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जहाँ पूरे वर्ष पौधे को निश्चित रूप से नमी प्राप्त होती रहे। केवल असम, पश्चिम बंगाल के कुछ भाग और पश्चिमी तट के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ शुष्क-दौरों की लम्बाई, लघुतर होती है। परन्तु मानसूनी वर्षा की अनिश्चित प्रवृत्ति जैसे—वर्षा का देर से होना, वर्षावधि जल्दी समाप्त हो जाना, दो नमी-दौरों के मध्य लम्बे शुष्क दौर, से यह आवश्यक हो जाता है कि कुओं, नलकूपों, तालाबों, तथा नहरों द्वारा सिंचाई के निश्चित साधनों का विकास किया जाये।

उन प्रदेशों में, जहाँ वर्षा 75 से. मी. और 100 से मी. के मध्य होती है, वहाँ साल के लगभग दो-तिहाई भाग में नमी का अभाव रहता है। यही हमारे देश का उपार्द्र क्षेत्र है। अर्ध शुष्क प्रदेशों में जहाँ वर्षा 30 से 75 से.मी. होती है, वहाँ नमी-अभाव लगभग पूरे साल बना रहता है। ये वास्तव में सूखा ग्रस्त क्षेत्र हैं, जो दक्षिणी हरियाणा, पूर्वी राजस्थान, गुजरात तथा पश्चिमी घाट के वृष्टि-छाया क्षेत्र में पाये जाते हैं। शुष्क प्रदेश, जिनमें औसत वार्षिक वर्षा 30 से.मी. से भी कम होती है, बगैर सिंचाई के, फसलों की खेती के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इस प्रकार शुष्कतर भागों में उत्पादकता के स्तर भी निम्न होते हैं। यहाँ मिलेट (ज्वार

बाजरा आदि) दालें, तथा तिलहन प्रमुख फसलें हैं। इन क्षेत्रों में कृषि की जा सकती है, किन्तु उसी समय जबकि सिंचाई के जरिये नमी उपलब्ध हों। शुष्क खेती तकनीक का भी विकास किया जा सकता है। इससे दालों तथा तिलहन समान फसलों के, उत्पादन-स्तरों को बढ़ाया जा सकता है। 'इन्टरनेशलन क्राप रिसर्च इंस्टीट्यूट फार सेमीऐरिड ट्रापिक्स (आइ. सी. आर. आइ. एस. ए. टी.) हैदराबाद' तथा, सेंट्रल एरिड जोन रिसर्च इंस्टीट्यूट (सी.ए.जेड.आर.आई.) जोधपुर इन तकनीकों के अनुसंधान और विकास में लगे हुए हैं। सहकारी एवं कृषि विकास बैंकों की वित्तीय सहायता से कुछ अनुकूल क्षेत्रों में सेक्त्र (स्प्रिंकलरों) ड्रिप्स-तन्त्र, नलिकाओं (बम्बों), जल-टरबाइनों तथा दृढ़ पम्पों का उपयोग भी प्रारम्भ किया जा सकता है।

देश के परम्परागत शस्य स्वरूप का, वर्षा-प्रारूप के साथ एक गहरा संबंध रहा है। आधुनिक प्रौद्योगिकी से अब यह सम्भव हो गया है कि अपरम्परागत क्षेत्रों में भी फसलों को उगा लिया जाये। पंजाब और हरियाणा में चावल की कृषि का विस्तार और बिहार तथा पश्चिम बंगाल में गेहूँ की खेती का प्रारम्भ, वास्तव में आधुनिक तकनीकों के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। पंजाब और हरियाणा में सिंचाई-सुविधाएँ इस प्रकार की हैं कि धान के खेतों को जल पौधों की आवश्यकता के अनुसार निश्चित रूप से मिल जाता है। भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश, जिसमें जम्मू और कश्मीर, हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश (हिमाचल प्रदेश के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं) शामिल हैं, में सकल सिंचित क्षेत्र सबसे अधिक हैं। यह देश के सकल सिंचित क्षेत्र का लगभग 42 प्रतिशत भाग हैं। पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश तथा कृष्णा-गोदावरी और कावेरी के डेल्टा प्रदेशों में नहरों के जाल का विकास किया गया था। बहु-उद्देशीय परियोजनाओं जैसे भाखड़ा-नंगल, दामोदर घाटी निगम, हीराकुंड, कोसी, तुंगभद्रा तथा नागार्जुन सागर, ने स्वतंत्रता पश्चात् अवधि के दौरान अतिरिक्त सिंचाई सुविधाओं की रचना कर दी है। राजस्थान के जलाभाव प्रदेश में इन्दिरा गांधी नहर परियोजना वास्तव में एक बड़े महत्त्व की परियोजना है। इन तमाम प्रयासों के बावजूद भी, सन् 1985-86 में शुद्ध बोए गए क्षेत्र का केवल 30 प्रतिशत भाग ही सिंचित हो पाया था। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत की जोती हुई भूमि का प्रमुख भाग, वर्षा पर फिर भी निर्भर रहेगा।

शस्य गहनता

खाद्यान्न के सम्पूर्ण उत्पादन को बढ़ाने के तरीकों में से एक यह है कि शुद्ध बोये हुए क्षेत्रफल का विस्तार किया जाये। परन्तु एक निश्चित सीमा के पश्चात् इसका विस्तार करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार, खाद्यान्न-उत्पादन बढ़ाने का विकल्प यह रह जाता है कि फसलों की गहनता को बढ़ाया जाए। शस्य-गहनता का अर्थ यह है कि एक कृषि-वर्ष के दौरान उसी खेत पर कई फसलें बोई जायें। उदाहरण के लिए एक किसान के पास 5 हेक्टेयर का सक्रियात्मक जोत है। खरीफ के मौसम के दौरान वह पूरे 5 हेक्टेयर के क्षेत्र पर फसलें बो देता है, खरीफ फसल काट लेने के बाद, वह पुनः 3 हेक्टेयर के क्षेत्र पर रबी के मौसम में एक अन्य फसल बो देता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसान ने 8 हेक्टेयर (5 हेक्टेयर क्षेत्र पर खरीफ के दौरान और 3 हेक्टेयर क्षेत्र पर रबी की अवधि में) क्षेत्रफल से फसलें प्राप्त की हैं। हालांकि वास्तविक

रूप में उसके पास केवल 5 हेक्टेयर भूमि है। यदि उसने 5 हेक्टेयर के क्षेत्र पर खरीफ के दौरान केवल एक ही फसल ली (बोई) होती, तो शस्य - गहनता सूचक 100 प्रतिशत रहा होता पर उपरोक्त उदाहरण में शस्य - गहनता 160 प्रतिशत होगी। वास्तव में शस्य गहनता भूमि उपयोग की तीव्रता को प्रतिबिम्बित करती है। सम्पूर्ण देश का शस्य-गहनता सूचक 126 प्रतिशत है। यह राज्य और जिले स्तरों पर एक बृहत प्रादेशिक विभिन्नता को दर्शाता है। शस्य- गहनता का उच्चस्थ सूचक 160 प्रतिशत सन्‌ 1983-84 के दौरान पंजाब में अभिलिखित किया गया था। इसके बाद हरियाणा (158 प्रतिशत) था। पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश और बिहार ने शस्य-गहनता 147,145 और 133 प्रतिशत अभिलिखित की थी। शुष्क भागों जैसे महाराष्ट्र, कर्नाटक, राजस्थान तथा गुजरात ने शस्य- गहनता सूचक की अलग-अलग प्रतिशत 115,118,116 और 109, तुलनात्मक रूप से निम्नतर अभिलिखित की है। यह सूचक आर्द्र प्रदेशों जैसे– असम (117 प्रतिशत) में भी निम्न रहा है।

शस्य-गहनता का सूचक एक बार से अधिक बोये हुए क्षेत्र के विस्तार से घनिष्ट रूप से सहसंबंधित है। एक बार से अधिक बोये हुए क्षेत्र का विस्तार जितना ही अधिक होगा, उतना ही अधिक शस्य-गहनता का सूचक होगा। इसका यह भी अर्थ है कि जोती गई भूमि के क्षेत्र की प्रति इकाई उत्पादकता भी अधिक होगी। शस्य-गहनता को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक सिंचाई, उर्वरक, बीजों की अनेक किस्में (शीघ्र परिपक्व होने और अधिक उत्पाद देने वाली), चयनात्मक यंत्रीकरण, जैसे–ट्रैक्टरों, पंपिंग सेटों और सीड-ड्रिलों आदि का उपयोग तथा बीजनाशी, पीड़कनाशी तथा कीटनाशी दवाओं के उपयोग के द्वारा पादप-रक्षण के उपाय आदि हैं। सिंचाई के लिये जल की उपलब्धता से उर्वरकों का अधिक मात्रा उपयोग निश्चित हो जाता हैं। इन उर्वरकों के उपयोग से भूमि को परती छोड़ना भी घट जाता है। बीजों की शीघ्र पकने वाली किस्मों से एक कृषि वर्ष में उसी खेत से एक से अधिक फसल लेने में सहायता मिलती है। पंजाब के उदाहरणों को लेकर निवेश–उपयोग और शस्य-गहनता के संबंध को स्पष्टतः समझाया जा सकता है। इस राज्य में शस्य- गहनता 160 प्रतिशत है, जबकि गुजरात में केवल 109 प्रतिशत अभिलिखित की गई थी। इसी प्रकार से पंजाब में उर्वरक का उपयोग 129.2 किग्रा./हिक्टेयर था जबकि गुजरात में यह केवल 42.0 किग्रा./हिक्टेयर था। पंजाब में ट्रैक्टरों का उपयोग कुल फसल क्षेत्र के प्रति हजार हेक्टेयर पर 9.0 पाया गया था, जबकि गुजरात में यह कुल फसल-क्षेत्र के प्रति हजार हेक्टेयर पर मात्र 1.2 था। ठीक इसी प्रकार पंजाब में कुल फसल क्षेत्र के प्रति हजार हेक्टेयर पर पम्पसेटों की संख्या 75 थी, जबकि गुजरात में यह केवल 54 थी। पंजाब में कुल फसल क्षेत्र का 99 प्रतिशत भाग सिंचित है, जबकि गुजरात में यह केवल 27.0 प्रतिशत ही है। पंजाब में, गुजरात की अपेक्षा प्रति इकाई क्षेत्र पर निवेश उपयोग की तीव्रता बहुत अधिक है, इसीलिए गुजरात की तुलना में पंजाब में शस्य-गहनता का सूचक भी बहुत अधिक है। देश में शुद्ध बोये हुए क्षेत्र के विस्तार की सम्भावना बहुत ही सीमित है, शस्य-गहनता में वृद्धि उस मार्ग को दर्शाती है जिसके जरिये कृषि उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जा सकती है।

वरित संवर्धनीय पद्धतियाँ, उनकी उपयोगिता एवं सुसंगति

इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि भारतवर्ष में कृषि न केवल एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक क्रिया है बल्कि जीवन व्यतीत करने की एक रीति भी है। इसीलिए भारतीय किसानों ने अपने हजारों वर्षों के अनुभव द्वारा जुताई की तकनीकों को सीख लिया है। किसान इस बात को महसूस करते हैं कि एक ही खेत पर लम्बे समय तक लगातार फसलें उत्पन्न करने से, मृदा के पोषक तत्वों का क्षय हो जाता है। मृदा-उर्वरता को पुनः वापस लाने के उद्‌देश्य से किसानों ने भूमि को परती छोड़ने की संवर्धनीय पद्धति को विकसित किया है। भूमि को एक मौसम या पूरे वर्ष बगैर किसी फसल के छोड़ दिया जाता है, जिसके कारण प्राकृतिक प्रक्रमों के द्वारा मृदा-उर्वरता अपने आप बढ़ जाती है। यदि भूमि में उर्वरकों और खादों की उच्चतर मात्राएँ दी जायें तो परती की अवधि को घटाया जा सकता है।

अन्य विधि जिसके द्वारा मृदा में पोषक तत्वों के ह्रास से उत्पन्न असंतुलन को सही करने की दिशा में प्रयत्न किया जाता है, वह है शस्यावर्तन। यह पता कर लिया गया है कि उसी भूमि पर यदि एक ही प्रकार की फसल साल के साल उगाई जाये, तो मृदा-पोषक तत्वों का क्षय तेज हो जाता है। इसीलिए अनाजों की फसल के बाद खेतों में दालें, या अन्य कोई भी फली उपजाई जाती है। फलियों में यह क्षमता होती है कि वे वायुमंडल से नाइट्रोजन का यौगिकीकरण करती रहें। तिलहन भी नाइट्रोजन के यौगिकीकरण में सहायक सिद्ध होते हैं। इसीलिए उसी खेत पर अनाजों के बाद तिलहन उत्पन्न किए जाते हैं। अत्यधिक उर्वरक गहन शस्य जैसे—गन्ना या तम्बाकू अनाज-शस्यों के साथ आवर्तित की जाती है। आवर्तन के लिये फसलों का चयन स्थानीय मृदा-दशाओं, किसानों के अनुभव और समझदारी पर निर्भर रहता है।

किसानों ने जोखिम कम करने की अपनी विधि विकसित की है, विशेषतौर पर देश के शुष्क प्रदेशों में। एक विधि मिश्रित शस्यन की और दूसरी रिले शस्यन की है। एक ही खेत में एक ही शस्य-अवधि में दो से तीन फसलों को बोने की पद्धति को **मिश्रित शस्यन** कहते हैं। उदाहरण के लिये, गेहूँ, चना और सरसों रबी की फसलें हैं, और किसान इसीलिये इन्हें एक ही खेत में बोते हैं। इसके दो लाभ हैं, प्रथम, मृदा पोषक तत्वों की क्षति चना और सरसों (जो नाइट्रोजन का यौगिकीकरण करते हैं) से पूरी हो जाती है। द्वितीय यह कि यदि गेहूँ की फसल को सफलता नहीं मिलती तो किसानों को अन्य अनाज तथा सरसों से लाभ हो जाता है। इसी तरीके से गेहूँ और जौ भी एक ही खेत में उत्पन्न हो जाते हैं, और इस मिश्रण को **गोजई** कहते हैं। जब गेहूँ और चना साथ-साथ बोये जाते हैं तो यह मिश्रण **गोचनी** के नाम से पुकारा जाता है। जौ और चना साथ-साथ बोने के फलस्वरूप जो मिश्रण प्राप्त होता है, उसे **बेझड़** कहते हैं। शस्यों की किस्मों और संख्या के मिश्रण को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण कारकों में मृदा, मौसम और परम्परा संबंधी स्थानीय दशाएँ हैं। इस प्रकार के मिश्रण से, फसलों की सफलता की अनिश्चितता कम हो जाया करती है।

प्रमुख फसलों का प्रादेशिक स्वरूप

भारतीय मृदायें, मौसम तथा अन्य शस्य-

विज्ञान के तत्त्व एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में अत्यधिक भिन्न हैं। इस विभिन्नता का परिणाम यह हुआ कि यहाँ शस्य स्वरूप में बहुत ही अधिक विभिन्नता पाई जाने लगी है। बहुत ही कम क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ एक धान्य कृषि की जाती है, अन्य क्षेत्र ऐसे हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की फसलें पास-पास उत्पन्न की जाती हैं। यह निर्णय कि किस खेत में किस फसल को उत्पन्न किया जाये, खेती करने वाली गृहस्थी द्वारा लिया जाता है। इस निर्णय को प्रभावित करने वाले अनेक कारक हो सकते हैं, उदाहरण के लिए—मृदा की उपयुक्तता, जल की उपलब्धता, कृषि में निवेश करने की गृहस्थी की क्षमता, उच्चतर कीमतों द्वारा शस्य से मुनाफे की निश्चितता तथा गृहस्थी की आवश्यकताएँ आदि।

भारतवर्ष में तीन शस्य-मौसम खरीफ, रबी, और जायद पाये जाते हैं। खरीफ का मौसम मानसून के प्रारम्भ होते ही शुरू हो जाता है और इसकी मुख्य फसलें चावल, मक्का, ज्वार, बाजरा, कपास, तिल, मूंगफली, तथा कुछ दालें जैसे—मूंग और उर्द आदि हैं। रबी का मौसम शीत ऋतु के अनुरूप रहता है और इसमें जो प्रमुख फसलें उत्पन्न की जाती हैं, वे इस प्रकार है—गेहूँ, जौ, ज्वार, चना तथा तिलहन, जैसे—अलसी, तोरिया तथा सरसों। जायद वास्तव में ग्रीष्म कालीन शस्यन मौसम है और इसकी प्रमुख फसलें चावल, मक्का, मूंगफली, सब्ज़ियां तथा फल, जैसे—तरबूज, ककड़ी आदि हैं। अब दालों के कुछ ऐसे बीजों की खोज कर ली गई है, जो ग्रीष्मकाल में सफलतापूर्वक बोई जा सकती हैं।

सन् 1960 के बाद, जब भारत में बीज उर्बरक सिंचाई प्रौद्योगिकी प्रारम्भ की गई थी, तब उस समय से इस देश के फसलस्वरूप में एक प्रमुख परिवर्तन होता देखा गया है। ये परिवर्तन, न केवल क्षेत्रफल में हुए, बल्कि विभिन्न फसलों की उपजों तथा उत्पादन में भी हुए। क्षेत्रफल, उत्पादन तथा उपज में जो परिवर्तन हुए, वे अनाजों विशेषरूप से गेहूँ और चावल में अधिक विशिष्ट थे। गेहूँ का उत्पादन सन् 1970-71 के मुकाबले सन् 1987-88 में दुगुना हो गया। सन् 1970-71 में यह केवल 239 लाख टन था, जो बढ़कर सन् 1987-88 में 451 लाख टन हो गया। गेहूँ का उत्पादन निरन्तर बढ़ता ही रहा है। सन् 1950-51 में इसका कुल उत्पादन मात्र 60 लाख टन था। उस समय से अब तक यह सात गुना बढ़ चुका है। इसके उत्पादन में जो वृद्धि हुई है, वह केवल क्षेत्रफल में वृद्धि के कारण नहीं बल्कि उपज-स्तरों में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण हुई है। इसी प्रकार से चावल का उत्पादन सन् 1950-51 में केवल 206 लाख टन था जो बढ़कर सन् 1986-87 में 605 लाख टन हो गया। सन् 1987-88 में इसका उत्पादन कुछ कम हो गया था, क्योंकि उस समय देश के अधिकांश भागों में सूखा की दशाएं विद्यमान थीं। दालों का उत्पादन अधिक संतोषजनक नहीं रहा है। तिलहनों का उत्पादन मंद गति से बढ़ा, किन्तु वह देश की मांग को पूरा नहीं कर सका। इन तमाम वर्षों में जूट का उत्पादन भी लगभग स्थिर रहा। कपास और गन्ने के उत्पादन भी कोई विशेष सन्तोषजनक नहीं थे।

सौ सेंटीमीटर की समवर्षारेखा देश को दो विस्तृत कृषि क्षेत्रों में विभाजित करती है। वह क्षेत्र जहाँ 100 सेमी. से अधिक वर्षा होती है, प्रधानतः चावल क्षेत्र हैं, किन्तु वह जो 100 सेमी. से कम वर्षा प्राप्त करता है, अधिकांशतः गेहूँ क्षेत्र है। देश

के शुष्क प्रदेशों का अपना विशिष्ट अधिष्टायी फसल स्वरूप है। सामान्यतः यहाँ ज्वार, बाजरा, तिलहन तथा दालें प्रधानरूप से उत्पन्न की जाती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि शस्य-क्षेत्रों के मध्य दृढ़ सीमांकन रेखायें हैं। दो शस्य क्षेत्रों के बीच एक संक्रमण क्षेत्र तो सदा ही पाया जाता है। इसके अतिरिक्त पैकेज-टैक्नोलॉजी के प्रवेश के पश्चात् विभिन्न क्षेत्रों में फसलों का अन्तप्रविश भी देखा जा सकता है। इसी विधि से पंजाब चावल के उत्पादन में इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है और पश्चिम बंगाल ने गेहूँ के उच्च उपज-स्तरों को प्राप्त कर लिया है।

चावल

भारतवर्ष में चावल एक महत्त्वपूर्ण फसल है। विश्व में चावल के अन्तर्गत जितना क्षेत्रफल है, उसका 29 प्रतिशत इस देश में पाया जाता है। यहाँ विश्व के कुल उत्पादन का लगभग एक-तिहाई भाग उत्पन्न होता है। चावल के उत्पादन और क्षेत्रफल में भारत की स्थिति चीन के बाद है, परन्तु उपज की दृष्टि से इसका सातवाँ स्थान है। चावल, देश के सकल फसल-क्षेत्रफल के 23 प्रतिशत भाग पर उत्पन्न होता है। सन् 1950-51 में इसका क्षेत्र 388 लाख हेक्टेयर था, जो सन् 1986-87 में बढ़कर 412 लाख हेक्टेयर हो गया। इसका उत्पादन भी पर्याप्त रूप से बढ़ा है। सन् 1950-51 में यह 206 लाख टन था, जो सन् 1986-87 में बढ़कर 606 लाख टन हो गया था। उत्पादन में जो इतनी वृद्धि हुई, वह क्षेत्रफल प्रभाव के कारण नहीं, बल्कि चावल की उपज में वृद्धि के कारण हुई थी। यह उपज सन् 1950-51 में 668 किग्रा. प्रति हेक्टेयर थी, जो सन् 1986-87 में बढ़कर 1471 किग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गया। चावल की उपज में जो वृद्धि हुई, वह इन वर्षों के दौरान दुगुनी से अधिक हो चुकी थी। इस तथ्य के बावजूद कि चावल की उपज में इतनी अधिक वृद्धि हुई है, भारत अब भी उपज-स्तरों में कोरियन डिमोक्रेटिक रिपब्लिक और जापान की तुलना में बहुत अधिक पीछे है। इन दोनों देशों में चावल-उपज क्रमशः 6670 किग्रा. /हेक्टेयर-और 6220 किग्रा. /हेक्टेयर अभिलिखित की गई थी।

चावल की खेती व्यापक रूप से की जाती है। देश के अति शुष्क प्रदेशों को छोड़कर यह लगभग सभी राज्यों में उत्पन्न किया जाता है। यह उत्तर-भारतीय मैदान के पूर्वी भागों, तटवर्तीय मैदानों, हिमालय-घाटियों तथा वेदिका-युक्त ढालों और अन्य क्षेत्रों, जहाँ सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं, में एक प्रमुख फसल है। पूर्वी प्रदेश कुल क्षेत्रफल के लगभग 67 प्रतिशत क्षेत्र पर चावल उत्पन्न करता है तथा देश में चावल के कुल उत्पादन का 50 प्रतिशत भाग इसी प्रदेश से प्राप्त होता है। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश ने चावल की उच्चतर उपज-स्तरों को प्राप्त कर लिया गया है। इन प्रदेशों में प्रमुख लाभ यह है कि यहाँ जल पूर्ति निश्चित है और शुष्क जलवायु पाई जाती है इसलिये पादप के नाशक रोग तथा बीमारियों के प्रकोप कम हैं। चावल एक ऐसी फसल है जिसमें श्रम की आवश्यकता अधिक पड़ती है, क्योंकि हल चलाने और प्रतिरोपण में बड़े पैमाने पर यंत्रीकरण इसलिए सम्भव नहीं है कि खेत अधिकांशतः पानी से भरे रहते हैं।

गेहूँ

यह क्षेत्रफल और उत्पादन के सन्दर्भ में

चावल के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण फसल है। हमारे देश में यह सकल फसल-क्षेत्रफल के लगभग 13 प्रतिशत भाग पर उत्पन्न किया जाता है। सन् 1987-88 में इसका क्षेत्र 226 लाख हेक्टेयर था, और उत्पादन 451 लाख टन था। सन् 1950-51 से गेहूँ के क्षेत्रफल और उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई है। उस समय गेहूँ के अन्तर्गत कुल क्षेत्र 98 लाख हेक्टेयर और उत्पादन 65 लाख टन था। पैकेज टेक्नोलॉजी के प्रवेश के उपरांत सन् 1970-71 में क्षेत्रफल और उत्पादन में जो वृद्धि हुई वह बहुत ही स्पष्ट थी। उस वर्ष क्षेत्र बढ़कर 183 लाख हेक्टेयर तथा उत्पादन 238 लाख टन क्रमशः हो गया। उत्पादन में जो वृद्धि हुई, वह स्पष्ट रूप से पिछले चालीस वर्षों में इसकी उपज में पर्याप्त वृद्धि हो जाने के कारण हुई है। गेहूँ की औसत उपज सन् 1950-51 में 663 किग्रा. प्रति हेक्टेयर थी, जो सन् 1970-71 में बढ़कर 1307 कि. ग्राम प्रति हेक्टेयर और 1987-88 में 1995 किग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गयी थी। आश्चर्य की बात यह है कि सन् 1985-86 की अवधि में 2046 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की शिखर उपज अभिलिखित की गई थी।

गेहूँ, रबी की फसल है। यह उत्तरी-पश्चिमी भारत में विस्तृत रूप से उत्पन्न किया जाता है। यह अधिकांशतः उस क्षेत्र में बोया जाता है, जहाँ वार्षिक वर्षा 50-75 सेमी. होती है। इसकी कृषि उस भाग में भी होती है, जहाँ मृदा की नमी बनाये रखने के लिए सिंचाई द्वारा जल उपलब्ध हो जाता है। यह मानसून ऋतु के समाप्त हो जाने के पश्चात् अक्टूबर के अंतिम सप्ताह या नवम्बर के प्रारम्भ में बोया जाता है। बीजों की जल्दी पकने तथा अधिक उपज प्रदान करने वाली कुछ किस्में दिसम्बर या जनवरी के प्रारम्भ में भी बोई जाती हैं। पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश विशेषतः गंगा-यमुना दोआब और गोमती-गंगा दोआब में की जाती है। राजस्थान और गुजरात के कुछ चयनित क्षेत्रों में भी इसकी कृषि की जाती है।

देश में कुल गेहूँ उत्पादन का लगभग 72.0 प्रतिशत पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश से प्राप्त होता है। गेहूँ के अंतर्गत क्षेत्र को भी अब काफी बढ़ा दिया गया है, विशेषतौर पर बिहार और पश्चिम बंगाल जैसे गैर परम्परागत क्षेत्रों तक। मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में भी गेहूँ की कृषि पर्याप्त बड़े क्षेत्र पर की जाती है। बिहार और पश्चिम बंगाल दोनों मिलकर देश में गेहूँ के कुल उत्पादन का 8 प्रतिशत भाग उत्पन्न करते हैं। पश्चिम बंगाल में गेहूँ की उपज प्रति हेक्टेयर बहुत अधिक है। भारत में गेहूँ की अधिक उपज वाली किस्मों को विकसित करने में कृषि विश्वविद्यालयों और संस्थानों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। गेहूँ उत्पन्न करने वाले प्रदेशों के गाँवों में,**कल्याण सोना** तथा **सोनालिका** इत्यादि, घरेलू नामों के रूप में प्रचलित हो गये हैं। उच्च उपज वाली किस्मों के अंतर्गत क्षेत्र विस्तार और इसके साथ उर्वरकों का उचित मात्रा तथा कुशल जल-प्रबंध आदि देश में गेहूँ के उत्पादन को बढ़ा और संतुलित रख सकते हैं।

मोटे अनाज

मोटे अनाजों में ज्वार-बाजरा, मक्का और जौ शामिल किये जाते हैं। हमारे देश में लगभग 360 लाख हेक्टेयर भूमि पर मोटे अनाज की खेती की जाती है। सन् 1970 की अवधि में इसका उत्पादन लगभग स्थिर था। सन् 1983-84 में

इसका शिखर उत्पादन 339 लाख टन हो गया था। इसके बाद से यह पुनः घट गया। इसका मुख्य कारण शस्य-क्षेत्र में ह्रास था, क्योंकि इन अनाजों के स्थान पर उच्च मूल्य वाली फसलें उत्पन्न की जाने लगी हैं। ज्वार खरीफ और रबी की फ़सल के रूप में उत्पन्न की जाती है। इसका क्षेत्रफल सन् 1950-51 से 1987-88 तक लगभग स्थिर रहा है। सन् 1950-51में यह 156 लाख हेक्टेयर भूमि पर बोयी गयी थी, जबकि सन् 1986-87 में 160 लाख हेक्टेयर और सन् 1987-88 में 156 लाख हेक्टेयर भूमि पर उत्पन्न की गयी थी। ज्वार के उत्पादन में वृद्धि हुई है और यह सन् 1950-51 में 55 लाख टन था, जो बढ़कर सन् 1987-88 में 118 लाख टन हो गया। यह वृद्धि प्रति हेक्टेयर उपज में वृद्धि हो जाने के कारण सम्भव हो पाई है। सन् 1950-51 में प्रति हेक्टेयर उपज 363 किग्रा. थी जो बढ़कर सन् 1987-88 में 757 किग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गई थी। महाराष्ट्र देश का सबसे बड़ा ज्वार उत्पन्न करने वाला राज्य है इसने सन् 1987-88 में देश में ज्वार बोए गए कुल क्षेत्रफल के 42 प्रतिशत भाग का तथा इसके कुल उत्पादन के 50 प्रतिशत भाग का योगदान दिया।

राजस्थान, गुजरात और दक्षिणी हरियाणा में बाजरा व्यापक रूप से उत्पन्न किया जाता है। बाजरा जितने क्षेत्र पर बोया जाता है, वह भी स्थिर रहा है, हालांकि यहाँ-वहाँ थोड़ी बहुत घट बढ़ अवश्य हुई है। सन् 1950-51 की अवधि में यह 90 लाख हेक्टेयर से अधिक क्षेत्र पर उत्पन्न किया जाता था, किन्तु सन् 1987-88 में यह घट कर केवल 83 लाख हेक्टेयर रह गया। जहाँ तक कि उत्पादन का प्रश्न है, वह सन् 1950-51 की अवधि में 26 लाख टन था, जो कुछ समय बाद 33 लाख टन और सन् 1983-84 में 77 लाख टन के अपने शिखर उत्पादन पर पहुँच गया था। यह एक अति पुष्ट शस्य है, और शुष्क क्षेत्रों में, जहाँ नमी बहुत कम पाई जाती है, सफलतापूर्वक उत्पन्न हो सकती है। उत्तर प्रदेश में बाजरा, चारा-फसल के रूप में उत्पन्न किया जाता है। तमिलनाडु में भी थोड़ा बहुत बाजरा उगाया जाता है।

पूर्वी राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब और पर्वतीय प्रदेशों जैसे—जम्मू और कश्मीर, तथा हिमाचल प्रदेश में मक्का एक महत्त्वपूर्ण फसल है। सन् 1950-51 से लेकर 1987-88 की अवधि में मक्का की कृषि का क्षेत्रफल 32 लाख हेक्टेयर से 55 लाख हेक्टेयर बढ़ गया था। इसी प्रकार से उत्पादन भी, जो सन् 1950-51 में 17 लाख टन था, बढ़कर सन् 1987-88 में 56 लाख टन हो गया था। सन् 1984-85 की अवधि में इसका शिखर उत्पादन 86 लाख टन पहुँच गया था। वास्तव में इसके उत्पादन में बड़ी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 में इसका उत्पादन 547 किग्रा. प्रति हेक्टेयर था, जो सन् 1983-84 में बढ़कर 1076 किग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गया था। परंतु सन् 1987-88 में देश के अन्दर सूखा की दशा के कारण यह घटकर 972 किग्रा. प्रति हेक्टेयर रह गया था।

जौ एक पुष्ट फसल है और यह विभिन्न प्रकार की शस्य दशाओं में उत्पन्न की जा सकती है। यह समुद्रतल से 1000 मीटर की ऊँचाई वाले क्षेत्रों में भी सफलतापूर्वक उग सकती है। इसकी सबसे अधिक मांग मदिरा-कारखानों को रहती है। हिमालय में उच्च भूमि पर वास करने वाले लोगों का यह प्रमुख आहार है। यह अधिकांश रूप से

पूर्वी राजस्थान, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा कश्मीर-हिमालय क्षेत्र में उत्पन्न किया जाता है। यह हल्की मृदाओं पर भी उगाया जा सकता है। बगैर सिंचाई के भी यह उग सकता है। अनाज के रूप में जौ का महत्व अब काफी कम हो गया है। जौ की खेती के कुल क्षेत्र का लगभग 54 प्रतिशत भाग ऐसा है जिस पर सिंचाई नहीं की जाती।

भारत के निर्धन ग्रामीण लोगों के उपयोग के लिये मोटे अनाज महत्त्वपूर्ण हैं। कृष्य भूमि का एक विशाल भाग ऐसा है जो वर्षा पर निर्भर है, इसलिये यह आवश्यक है कि मोटे अनाजों के उत्पादन-तल को स्थिर रखा जाये। यह मृदा-नमी के संरक्षण, शुष्क खेती तकनीकों के अपनाने और जल विभाजक प्रबंध द्वारा सम्भव है।

दालें

भारत में प्रधानतः शाकाहारी जनसंख्या के आहार में दालें प्रोटीन का प्रमुख स्रोत है। दालों के उत्पादन में वृद्धि उस दर से नहीं हुई है, जिस दर से अनाजों के उत्पादन में हुई है। सन् 1950-51 में दालों को उत्पन्न करने वाला कुल क्षेत्र 191 लाख हेक्टेयर था, जो देश के सकल फसल-क्षेत्र का लगभग 15 प्रतिशत था। सन् 1984-85 में दालों को उत्पन्न करने वाला कुल क्षेत्र 228 लाख हेक्टेयर था, जो सकल फसल-क्षेत्र का केवल 13 प्रतिशत था। इससे यह पता चलता है कि राष्ट्रीय स्तर पर सकल फसल-क्षेत्र में दालों का हिस्सा पर्याप्त रूप से कम हुआ है। सन् 1985-86 में दालों का उत्पादन अपने शिखर पर पहुँच गया था और 134 लाख टन हो गया था, किन्तु सन् 1986-87 में यह घटकर 117 लाख टन, तथा इसके भी आगे सन् 1987-88 में 110 लाख टन रह गया। दालों के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल का लगभग 90 प्रतिशत भाग ऐसा है, जो वर्षा पर निर्भर है। मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, बिहार, हरियाणा, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल में व्यापक रूप से उत्पन्न की जाती है। दालें, खरीफ और रबी दोनों ऋतुओं में उगाई जाती हैं। अरहर (तुर), मूँग, उर्द, मोठ इत्यादि खरीफ की फसलें हैं, जब कि चना, मटर, मसूर, रबी की शस्य हैं। उर्द भी रबी की फसल है। अरहर उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, गुजरात और तमिलनाडु में दालों की प्रमुख फसल है और चना, बिहार, हरियाणा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र में दालों की प्रमुख फसल मानी जाती है। दालों के उत्पादन को बढ़ाने के लिये, राष्ट्रीय दाल विकास प्रोग्राम का सन् 1986-87 में श्रीगणेश किया गया।

तिलहन

वास्तव में तिलहन, नौ-दस विभिन्न बीजों का समुच्चय है। इन बीजों के नाम इस प्रकार हैं— मूंगफली, एरंड (अंडी), तिल, तोरिया, सरसों, अलसी, नाइजरसीड, कुसुम, सूर्यमुखी तथा सोयाबीन। और भी कई ऐसे बीज हैं, जिनसे खाद्य तेल प्राप्त किया जाता है, जैसे—नारियल महुआबीज, तथा बिनौला। तिलहन, एक शुष्क भूमि फसल है, यद्यपि कुछ तिलहन ऐसे हैं, जैसे— सरसों, जो सिंचित दशाओं के अंतर्गत उत्पन्न किए जाते हैं। सन् 1987-88 में 20 लाख हेक्टेयर से अधिक क्षेत्र पर तिलहन की खेती की गई थी, जब कि सन् 1950-51 में यह क्षेत्रफल केवल 107 लाख हेक्टेयर था। इसी प्रकार सन् 1987-88 में इसका कुल उत्पादन 124 लाख टन था, जबकि

सन् 1950-51 में यह केवल 52 लाख टन था। तिलहन के उत्पादन में वृद्धि के बावजूद भी, मांग की अपेक्षा पूर्ति बहुत ही कम हो पाती है, और इसीलिये खाद्य तेल विदेशों से आयात करने पड़ते हैं। गुजरात वास्तव में तिलहन उत्पन्न करने वाला सबसे बड़ा राज्य है। इसके बाद आन्ध्र प्रदेश और उत्तर प्रदेश के स्थान हैं। मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, कर्नाटक और तमिलनाडु भी तिलहन उत्पन्न करने वाले महत्त्वपूर्ण राज्य हैं। तिलहन के उत्पादन को बढ़ाने के संबंध में कई उपाय अपनाये जा रहे हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं– नेशनल आयलसीड डेवेलपमैंट प्रोजेक्ट (एन. ओ. डी. पी.) तथा आयलसीड प्रोडक्शन थ्रस्ट प्रोजेक्ट (ओ. पी. टी. पी.) का आरम्भ इसी उद्देश्य से किया गया है। तिलहन पर एक टेक्नोलॉजी मिशन की नियुक्ति की गई है, जो उत्पादन को बढ़ावा देगा और प्रक्रमण प्रौद्योगिकी का विकास करेगा।

गन्ना

यह विचार किया जाता है कि भारतवर्ष गन्ने का मूल जन्म स्थल है। यह देश के उष्ण कटिबंधीय और उपोष्णकटिबंधीय दोनों प्रदेशों में उत्पन्न किया जाता है। यह दक्षिण में कन्याकुमारी से लेकर उत्तर में पंजाब तक पैदा किया जाता है। गन्ने की उष्णकटिबंधीय किस्मों को उत्पन्न करने वाले मुख्य राज्य, तमिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र हैं। इन राज्यों के प्रमुख भाग, जो गन्ना उत्पन्न कर रहे हैं, 15^0 उत्तरी अक्षांश के दक्षिण में अवस्थित हैं। दक्षिण भारत में गन्ने की जो उष्णकटिबंधीय किस्में उत्पन्न की जाती हैं। उनसे प्रति इकाई क्षेत्र पर उच्चतर उपज प्राप्त होती है, जबकि उत्तर भारत में उपोष्णकटिबंधीय किस्मों से उतनी उपज प्राप्त नहीं हो पाती।

उपोष्णकटिबंधीय प्रदेश जो गन्ना उत्पन्न कर रहे हैं, उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा और पंजाब हैं। उत्तर प्रदेश गन्ना उत्पन्न करने वाला सबसे बड़ा राज्य है। महाराष्ट्र भी अब गन्ना उत्पन्न करने वाला महत्त्वपूर्ण राज्य हो गया है। उष्णकटिबंधीय प्रदेश में गन्ने की कृषि 12 लाख हेक्टेयर पर की जाती है, जब कि उपोष्णकटिबंधीय प्रदेश में यह 21 लाख हेक्टेयर क्षेत्र पर उत्पन्न किया जाता है। गन्ने की कृषि का क्षेत्र सन् 1950-51 में 17 लाख हेक्टेयर था, जो सन् 1987-88 में बढ़कर 33 लाख हेक्टेयर हो गया। इसी प्रकार सन् 1950-51 में इसका कुल उत्पादन 571 लाख टन था, जो सन् 1987-88 में बढ़कर 1976 लाख टन हो गया।

गन्ना एक ऐसा फसल है, जिसे उर्वरक की आवश्यकता रहती है, इसीलिए यह उपजाऊ भूमि पर भली-भाति उत्पन्न होता है। इसके लिए उच्च तापमान और लगभग 100 सेमी. वर्षा आवश्यक है। जिन क्षेत्रों में वर्षा कम होती है, वहाँ सिंचाई करना अनिवार्य होता है। तुषारहीन दशाओं के अंतर्गत यह बहुत अच्छी तरह से उत्पन्न होता है। उत्तरी मैदानों में मौसम संबंधी चरम दशाएं जैसे अति उष्ण ग्रीष्म और अति शीतल शीतऋतु, गन्ने की अल्प उपज के लिये उत्तरदायी हैं। फिर भी यहाँ सिंचाई संबंधी सुविधाओं की उपलब्धता गन्ने की कृषि के लिए अनुकूल कारक है।

कपास

सूती वस्त्रोत्पादन उद्योग में कपास एक कच्चे पदार्थ के रूप में उपयोग की जाती है। यह उन क्षेत्रों में सफलतापूर्वक उत्पन्न होती है, जहाँ

सुअपवाहित गहरी मृदा पाई जाती है और पौध वृद्धि की अवधि में समानरूप से वितरित हल्की वर्षा या सिंचाई द्वारा जल उपलब्ध हो जाता है तथा कपास चुनने के समय तेज धूप रहती है। कपास के लिए तुषार बहुत हानिकारक होता है इसीलिए यह उन प्रदेशों में उत्पन्न की जाती है, जहाँ उसकी वृद्धि की अवधि में 21^0 सेल्सियस से अधिक तापमान रहता है। कपास चुनते समय यदि आसमान पर बदली छाई रहती है, तो वह खराब हो जाती है। दक्षिण पठार के काली मृदा वाले तथा शुष्क भागों में कपास विशेषरूप से उत्पन्न होती है। महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश के आसन्न क्षेत्र तथा गुजरात में यह विस्तृत रूप से उत्पन्न की जाती है। उत्तर में पंजाब, हरियाणा और राजस्थान, तथा दक्षिण में तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश तथा कर्नाटक, अन्य महत्वपूर्ण कपास उत्पन्न करने वाले राज्य हैं। देश के विभिन्न भागों में यह ज्वार, मक्का, बाजरा या गेहूँ के साथ आवर्तन में बोई जाती है।

सन् 1950-51 में कपास की खेती का कुल क्षेत्र 59 लाख हेक्टेयर था, जो सन् 1986-87 में बढ़कर लगभग 70 लाख हेक्टेयर हो गया। परन्तु सन् 1987-88 में यह घट कर 65 लाख हेक्टेयर रह गया था, क्योंकि उस वर्ष कपास उत्पन्न करने वाले प्रदेशों में व्यापक रूप से सूखा का प्रकोप छाया हुआ था। जहाँ तक उत्पादन का प्रश्न है, वह सन् 1950-51 की तुलना में 1987-88 में दुगुना हो गया था। सन् 1950-51 में कपास का उत्पादन 31 लाख गाँठें (1 गाँठ = 170 किग्रा.) था। सन् 1985-86 में इसका शिखर उत्पादन 87 लाख गाँठों तक पहुँच गया था। किन्तु सन् 1986-87 और सन् 1987-88 में यह पर्याप्त रूप से घट गया था। संकर बीजों की मदद से उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। कपास की किस्म में भी बहुत उन्नति हुई है। अब लम्बे रेशे वाले कपास का उत्पादन, कुल उत्पादन का लगभग 30 प्रतिशत हो गया है।

जूट

कपास के समान जूट भी एक रेशा-शस्य है। किन्तु इसके विपरीत जूट उस प्रदेश में उत्पन्न किया जाता है जहाँ भारी वर्षा होती है, और उच्च तापमान रहता है। इसकी कृषि पूर्वी भारत में, विशेषतौर पर पश्चिम बंगाल, असम, बिहार, उड़ीसा तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में की जाती है। इसके लिए सुअपवाहित काँप दोमट मृदाओं की आवश्यकता होती है जिसका बाढ़ द्वारा नवीकरण होता रहता है। पश्चिम बंगाल जूट का प्रमुख उत्पादक है।

सन् 1950-51 में जूट के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल 5,71,000 हेक्टेयर था। सन् 1985-86 में यह सबसे अधिक था। उस समय इसका शिखर क्षेत्रफल 12 लाख हेक्टेयर हो गया था, परन्तु 1987-88 में यह घटकर 7 लाख हेक्टेयर रह गया। इसी प्रकार से सन् 1950-51 में इसका उत्पादन 33 लाख गाँठें अभिलिखित किया गया था। यह सन् 1985-86 में अपने शिखर पर पहुंच गया था क्योंकि कुल उत्पादन 109 लाख गाँठें हो गया था। परन्तु सन् 1987-88 में इसके उत्पादन में तीव्र गति से ह्रास हुआ, और वह केवल 58 लाख गाँठें रह गया। जूट के कुल उत्पादन में पश्चिम बंगाल का योगदान सन् 1985-86 में 68 प्रतिशत, सन् 1986-87 में 67 प्रतिशत तथा सन् 1987-88 में 63 प्रतिशत था।

पश्चिम बंगाल में जूट के उत्पादन में यह जो प्रगामी ह्रास हुआ उसका मुख्य कारण क्षेत्रफल में कमी बताया जाता है।

चाय

भारतवर्ष, विश्व में चाय उत्पन्न करने वाला सबसे बड़ा देश है, यद्यपि क्षेत्रफल की दृष्टि से चीन की प्रथम स्थिति है। भारत में चाय की खेती असम में ब्रह्मपुत्र घाटी में प्रारंभ हुई थी। अब यहाँ देश के कुल उत्पादन का लगभग 45 प्रतिशत उत्पन्न होता है। पश्चिम बंगाल के उत्तरी जिलों जैसे—दार्जिलिंग, जलपाइगुड़ी और कूचबिहार भी महत्त्वपूर्ण चाय-उत्पादक क्षेत्र हैं। चाय-उत्पन्न करने वाले इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश के अतिरिक्त, कुछ चाय के बागान रांची पठार, हिमाचल प्रदेश में शिवालिक के ढालों पर तथा उत्तर प्रदेश में दून घाटी में विकसित किये गये हैं।

एक अन्य चाय उत्पन्न करने वाला महत्त्वपूर्ण क्षेत्र दक्षिण भारत में पाया जाता है। इस क्षेत्र में तमिलनाडु, केरल तथा कर्नाटक आते हैं। नीलगिरि तथा पश्चिमी घाट के क्षेत्रों में चाय की खेती के लिए आदर्श कृषि-दशाएं पाई जाती हैं।

चाय का उत्पादन सन् 1950-51 में 27.5 करोड़ किग्रा. था, जो बढ़कर सन् 1987-88 में 70.2 करोड़ किलोग्राम हो गया था। इस अवधि में यह वृद्धि दुगुनी हो गई थी। इसी प्रकार से सन् 1950-51 में चाय की खेती का क्षेत्रफल 3.14 लाख हेक्टेयर था, जो सन् 1987-88 में बढ़कर 4.01 लाख हेक्टेयर हो गया था। सन् 1987-88 में चाय की खेती का जो कुल क्षेत्रफल था, उसका 40 प्रतिशत असम में था। यहाँ चाय के कुल उत्पादन का लगभग 45 प्रतिशत मात्र उत्पन्न हुआ था। ब्रह्मपुत्र घाटी में बृहत बागानों के अतिरिक्त छोटे-छोटे जोतों पर भी चाय का उत्पादन प्रारम्भ हो गया है। इसके परिणामस्वरूप ही इस प्रदेश में चाय के उत्पादन में उतनी अधिक वृद्धि हुई है।

कॉफ़ी

भारतवर्ष में कॉफी कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु में उत्पन्न होती है। यह देश कॉफी की व्यवसायिक रूप से छह महत्त्वपूर्ण किस्मों को उत्पन्न करता है। इनके नाम इस प्रकार हैं– **ओल्ड चिका, कूर्ग, केंट, एस-288, एस-795 और एस-1934**। कॉफी के बागान लाल लोहमय मृत्तिका वाले क्षेत्रों पर विकसित की गई है। ये क्षेत्र कर्नाटक में बाबाबूदन की पहाड़ियों और तमिलनाडु में नीलगिरि पर पाये जाते हैं। ये मृदाएं जैव पदार्थ में समृद्ध हैं। इस देश में अधिकांशतः **अरेबिक** किस्म की कॉफी उत्पन्न होती है।

भारत में कॉफी के अंतर्गत जितना भी क्षेत्र है, उसका 60 प्रतिशत भाग कर्नाटक में उत्पन्न होता है। इस राज्य में कॉफी उत्पन्न करने वाले महत्त्वपूर्ण क्षेत्र इस प्रकार हैं – चिकमंगलूर, कुर्ग, हसन, मैसूर, शिमोगा, और दक्षिण कनारा। केरल में देश के कुल उत्पादन का 21 प्रतिशत भाग उत्पन्न होता है। यहाँ पर कॉफी उत्पन्न करने वाले महत्त्वपूर्ण क्षेत्र इस प्रकार हैं – इद्दुकी, पालघाट, कोटट्यम, क्वीलोन, एर्नाकुलम, त्रिचूर और अल्लेपी। इसी प्रकार से तमिलनाडु में मदुरै, तिरूनेलवेली, तथा नीलगिरि कॉफी उत्पन्न करने वाले महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं। कोयम्बटूर, सेलम तथा कन्याकुमारी में भी कुछ कॉफी उत्पन्न की जाती

है। सन् 1950-51 में भारतवर्ष ने 18,893 टन कॉफी उत्पन्न की थी, जो सन् 1987-88 में बढ़कर 120,000 टन हो गई। सन् 1970 तक कॉफी का उत्पादन तेजी से बढ़ा, किन्तु इसके बाद घटने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई। सन् 1988 के इसके उत्पादन में पुनः वृद्धि होने लगी, किन्तु वृद्धि बहुत ही मन्द गति से प्रारम्भ हुई। सन् 1986-87 की अवधि में भारतवर्ष ने 86,053 टन कॉफी का निर्यात किया था।

कृषि-विकास का स्थानिक प्रतिमान

अर्थव्यवस्था के अन्य प्रक्षेत्रों के विकास के लिये कृषि-विकास एक आधार है, क्योंकि यह अर्थव्यवस्था ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या के एक विशाल भाग का पालन-पोषण करती है। उत्पादकता-तत्वों द्वारा प्रतिबिम्बित कृषि-विकास के स्तर को परिशिष्ट I में दर्शाया गया है। यह आंकड़े वास्तव में अध्ययन की खोजों का सार है। परिशिष्ट I से यह स्पष्ट होता है कि देश के 39 जिले ऐसे हैं, जिनमें रू. 1750/- प्रति हेक्टेयर से अधिक, उत्पादकता-तलों को अभिलिखित किया गया। 50 जिले ऐसे हैं, जहाँ रू. 1250/- प्रति हेक्टेयर उत्पादकता-तल अभिलिखित किया गया। इसी प्रकार से 108 जिलों में मध्यम उत्पादकता तल अभिलिखित किया गया और मात्र 84 जिले ऐसे हैं, जिन्होंने निम्न उत्पादकता अभिलिखित की थी। उच्च उत्पादकता जिले पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, असम, पश्चिम बंगाल, तटवर्तीय आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, तटवर्तीय कर्नाटक और महाराष्ट्र में अवस्थित हैं। जम्मू और कश्मीर का श्रीनगर डिवीजन और उत्तर प्रदेश के कुछ पूर्वी जिलों ने भी उच्च उत्पादकता को अभिलिखित किया है। राजस्थान, मध्यप्रदेश दक्षिणी बिहार, दक्षिणी उड़ीसा, महाराष्ट्र तथा उत्तरी कर्नाटक में विस्तृत एक विशाल पेटी में न्यून उत्पादकता अभिलिखित की गई है। दक्षिणी हरियाणा, उत्तर प्रदेश, उत्तरी बिहार, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, दक्षिणी कर्नाटक तथा गुजरात की रचना करने वाले, देश के शेष भाग ने कृषि-विकास के मध्यम तल को अभिलिखित किया है। इस संबंध में हिमाचल प्रदेश, अरूणाचल प्रदेश तथा उत्तर-पूर्व के अन्य राज्यों के आँकड़े उपलब्ध नहीं हो पाये थे।

भारतीय कृषि के बारे में अक्सर उठाया जाने वाला मुख्य प्रश्न यह है कि किन कारकों ने इसको रूपांतरित किया है तथा कृषि-विकास के लिये उत्तरदायी रहे हैं।

भारतीय कृषि को रूपान्तरित करने में "हरित क्राँति" जिसे सामान्यतः 'पैकेज टेक्नोलॉजी' कहते हैं, ने प्रमुख भूमिका निभाई है। पैकेज टेक्नोलॉजी से हमारा अर्थ कृषि - उत्पादन बढ़ाने के लिए सिंचाई जैव - रासायनिक उर्वरक तथा अधिक उपज देने वाली बीजों की किस्मों का आधारभूत निवेश के रूप में अपनाए जाने से है। उच्च उपज वाली किस्मों के विकास और उनके क्षेत्रीय प्रसार के परिणामस्वरूप खाद्यान्नों के उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई है। विभिन्न फसलों में केवल गेहूँ ही एक ऐसी शस्य थी जिस पर हरित क्राति प्रौद्योगिकी का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। इसके प्रभाव से सकल सिंचित क्षेत्र बढ़कर 29.6 प्रतिशत हो गया। उर्वरकों का उपयोग भी 34.1 किग्रा. प्रति हेक्टेयर बढ़ गया। ट्रैक्टरों की संख्या भी पर्याप्त रूप से बढ़ी है। यह सन् 1960-63 की अवधि में, फसल-क्षेत्र के प्रति हजार हेक्टेयर क्षेत्र पर 0.3 थी, जो

सन् 1980-83 की अवधि में 1.6 ट्रैक्टर हो गई थी। इसी प्रकार से पम्पसेटों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। सन् 1960-63 की अवधि में फसल-क्षेत्र के प्रति हजार हेक्टेयर क्षेत्र पर इसकी संख्या 5.8 थी, जो सन् 1980-83 की अवधि में बढ़कर 28.2 हो गई थी। अधिक उत्पादी जिले, आधुनिक निवेश का अत्यधिक उपयोग करते हैं। जो पिछड़े हुए जिले हैं वे भी अपने उत्पाद को बढ़ा सकते हैं, किन्तु उसी समय जब कि वे निवेश स्तर को उसी अनुपात में बढ़ा लें।

अभ्यास

समीक्षा-प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर दीजिए :
   - (i) शस्य-गहनता का क्या अर्थ है? उन कारकों के नाम बतलाइये जो शस्य-गहनता को प्रभावित करते हैं।
   - (ii) विकसित कृषि किस प्रकार से औद्योगिक प्रक्षेत्र के विकास में सहायक सिद्ध होती है?
   - (iii) जमींदारी तन्त्र क्या है? इसका उन्मूलन कब हुआ था?
   - (iv) पैकेज टेक्नोलॉजी' से आप क्या समझते हैं? इसको पैकेज टेक्नोलॉजी क्यों कहते हैं?
   - (v) भारत में कृषि-विकास, वास्तव में निवेश तीव्रता का कार्य रहा है। पंजाब, हरियाणा तथा मध्य प्रदेश के उदाहरणों सहित इसकी चर्चा कीजिए।
   - (vi) देश में पारम्परिक फसल-स्वरूप, वर्षा के प्रतिमान से घनिष्ट रूप से संबंधित रहा है, इस तथ्य की चर्चा कीजिए।
   - (vii) शस्यावर्तन क्यों अपनाया गया है?

2. अन्तर बतलाइये :
   - (i) मिश्रित शस्यन और मिश्रित अर्थव्यवस्था।
   - (ii) आदिकालीन जीविका और गहन जीविका खेती।
   - (iii) खाद्यान्न और खाद्य-शस्य।
   - (iv) नम और शुष्क कृषि।
   - (v) खरीफ और रबी फसलें।

मानचित्र कार्य

3. भारत के रूपरेखा मानचित्रों पर निम्नलिखित दिखाइये।
   - (i) गन्ने की खेती के क्षेत्र
   - (ii) कपास की खेती के क्षेत्र
   - (iii) जूट की खेती के क्षेत्र

भारतीय कृषि के प्रमुख लक्षण

4. भारत के सांख्यिकीय सार से गत वर्ष के गेहूँ, चावल और तिलहन के क्षेत्र, उपज और उत्पादन पता कीजिए, और इनको उपयुक्त मानचित्रीय विधि की सहायता से निरूपित कीजिए।

अध्याय 3

विनिर्माण - उद्योग

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था की प्रबलता के संबंध में कोई निर्णय, उसके विनिर्माण उद्योग के विकास के स्तर के आधार पर किया जाता है। विश्व के सभी विकसित देश, जैसे – संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस और जापान, आजकल अत्याधिक औद्योगीकृत राष्ट्र हैं। विश्व विकास रिपोर्ट 1987 के अनुसार भारतवर्ष में सन् 1985 के दौरान विनिर्माणी उद्योगों का योगदान, कुल घरेलू उत्पाद का 17 प्रतिशत था, जब कि इसका योगदान जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रॉंस में क्रमशः 30, 20 और 25 प्रतिशत था। विनिर्माणी उद्योगों की, संसाधनों के उपयोग में एक प्रधान भूमिका है, क्योंकि वे इन संसाधनों को अति महत्त्वपूर्ण वस्तुओं में रूपान्तरित करते हैं। इसीलिये वे देश जो वस्तुओं का विनिर्माण करने में असमर्थ हैं, उपलब्ध कच्चे माल के संसाधनों का उपयोग नहीं कर सकते, और सामान्यतः वे बहुत ही कम दरों पर अपने कच्चे मालों को निर्यात कर देते हैं। दूसरी ओर, उनको अन्य देशों से तैयार माल अधिक मूल्य पर खरीदना पड़ता है। औद्योगिक उत्पादों से ही धन की अधिक वृद्धि होती है। औद्योगिक श्रम को इसीलिये उच्चतर मजदूरी मिलती है, और उसका रहन-सहन का स्तर ऊँचा रहता है। विशाल जनसंख्या के कारण भारतवर्ष का घरेलू व्यापार भी बहुत बड़ा है। इसीलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम औद्योगिक विकास की गति को तीव्र करें और उद्योगों में विभिन्नता लायें। अपनी वृद्धि सामरिकी के अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप में भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता के बाद तीव्र और व्यापक औद्योगिक विकास की नीति को अपनाया है।

देश का यह प्रयास रहा है कि योजना-प्रक्रम के द्वारा अपनी कृषि अर्थव्यवस्था को औद्योगिक अर्थव्यवस्था में परिणत करे। नीति के अनुसार राज्य को औद्योगिक विकास में मूलभूत खंडों को नियंत्रित करके एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। इसके साथ ही साथ गैर-सरकारी उद्योगपतियों को भी प्रोत्साहन देना है, जिससे कि वे देश की औद्योगिक वृद्धि की प्रेरणा के प्रति उत्तरदायित्व में भाग लें। भारतवर्ष ने अपनी औद्योगिक वृद्धि में महत्त्वपूर्ण प्रगति प्राप्त कर ली है। सन् 1987-88 के दौरान औद्योगिक वृद्धि 7.5 प्रतिशत रही, जबकि विनिर्माणी खंड ने 8.2 प्रतिशत की वृद्धि अंकित की थी। जिस प्रकार जल कृषि में मूलभूत निवेश रहा है, ठीक उसी प्रकार से किसी देश के औद्योगिक विकास में विद्युत शक्ति महत्त्वपूर्ण निवेश रहा है।

उद्योग : अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे

यदि "हाथ से बनाना" शब्द के शाब्दिक अर्थ को स्वीकार कर लिया जाये, तो भारतवर्ष में विनिर्माण की एक पुरानी परम्परा चली आ रही है। यूरोप में औद्योगिक क्रांति के बहुत पहले से भारतीय कारीगर और शिल्पकार महीन मलमल को बुनना, मिट्टी के बर्तन बनाना, आभूषण और धातु-वस्तुएं जिनकी विदेशों में बहुत माँग रहती थी, तैयार करना जानते थे। वास्तव में यूरोप में जब औद्योगिक क्रान्ति हुई, उससे बृहत फैक्ट्री-उत्पादन की प्रौद्योगिकी पता लग गई। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय शक्ति द्वारा उपनिवेशन होने लगा, जिसका उद्देश्य यह था कि नये बाज़ार को ग्रहण किया जाये और उष्णकटिबंधीय कच्चे माल प्राप्त किये जायें। भारतवर्ष में ब्रिटिश उपनिवेशी शासन ने उन हस्तशिल्प और घरेलू उद्योगों पर विपरीत प्रभाव डाला, जिनको भारतीय शिल्पकारों ने सदियों से परिपूर्ण कर रखा था। ये उत्पाद, वास्तव में फैक्ट्री में बने उत्पादों से , न तो गुण और न ही मूल्य में, प्रतियोगिता कर सकते थे। औद्योगिक क्रांति के जो अन्य प्रभाव पड़े, वे इस प्रकार हैं – औद्योगिक कामगारों की संख्या में वृद्धि, नगरीय क्षेत्रों में, कामगारों का बड़े पैमाने पर प्रवास और बाज़ार अर्थव्यवस्था का प्रवेश आदि।

भारतवर्ष में आधुनिक औद्योगिक खंड संगठित रूप में उस समय प्रारम्भ हुआ, जब कि सन् 1854 में प्रधानतः भारतीय पूंजी और उद्यम से बम्बई नगर में एक सूती वस्त्र उद्योग की स्थापना की गई। सन् 1855 में अधिकाँशतः विदेशी पूँजी और उद्यम से कलकत्ता शहर के निकट हुगली घाटी में जूट उद्योग प्रारम्भ किया गया। इसका अर्थ यह है कि आधुनिक औद्योगिक खंड का प्रारम्भ, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद ही हो पाया था। दो विश्व युद्धों के परिणामस्वरूप कई उद्योग धंधों के विकास को प्रोत्साहन मिला। ये उद्योग-धंधे इस प्रकार थे– रसायन, लोहा एवं इस्पात, चीनी, सीमेंट, शीशा तथा अन्य उपभोक्ता-वस्तु संबंधी उद्योग। स्वतंत्रता के पश्चात जो औद्योगिक नीति अपनाई गई, उसने सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति पर अधिक बल दिया। ये उद्देश्य इस प्रकार थे – रोजगार-जनन, उच्चतर उत्पादकता, विकास में प्रादेशिक असंतुलनों को दूर करना, कृषि-आधार को गति प्रदान करना, निर्यात प्रधान उद्योगों की अभिवृद्धि और उपभोक्ता-संरक्षण। जानबूझ कर एक ऐसी नीति अपनाई गई, जिसके अतंर्गत उद्योग-धंधों को आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों में स्थापित किया गया, जिससे विकास में पाये जाने वाले प्रादेशिक असंतुलनों को कम किया जा सके।

सन् 1948 और 1956 में जो औद्योगिक नीतियाँ अपनाई गई उनके कारण भारत के औद्योगिक विकास को एक नयी दिशा मिली है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के साथ-साथ औद्योगीकरण का प्रक्रम शुरू हो गया था, और उत्तरोत्तर योजना-अवधियों में बराबर चलता रहा। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान, उद्योग धंधों की विविधता और वृद्धि पर अधिक बल दिया गया था। इधर सार्वजनिक क्षेत्र में नये इस्पात संयंत्र भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर में स्थापित किये गये, तो उधर निजी क्षेत्र के संयंत्रों को भी अपनी क्षमता बढ़ाने के संबंध में प्रोत्साहन दिया गया। भारी और आधारभूत उद्योगों को प्राथमिकता दी गई जिसके अन्तर्गत

भारी विद्युत उद्योग, भारी इंजीनियरी उद्योग और मशीन टूल उद्योग स्थापित किये गये। रसायन उद्योग का विकास उस स्तर तक हो चुका था जिसके बाद भी उसका विस्तार किया जा सके। तीसरी और चौथी योजना-अवधियों के दौरान औद्योगिक विकास की गति को क्षति पहुँची थी, जिसका मुख्य कारण सन् 1962 और 1965 में चीन और पाकिस्तान से भारत की झड़पें थीं। इसके अतिरिक्त सन् 1965-66 और 1966-67 में जो भयंकर सूखा-दशाएं उत्पन्न हुई थीं, उनके कारण भी औद्योगिक विकास की गति में बाधा पड़ी थी। अधिकांश उद्योग धंधों को कच्चे पदार्थों की कमी के कारण क्षति पहुँची थी। सन् 1968-69 के बाद इनके पुनः स्थापन के चिन्ह नज़र आने लगे थे। यद्यपि लोहे और इस्पात के उत्पादन में पर्याप्त कमी हो गई थी, फिर भी कुछ उद्योग धंधों, जैसे, अल्युमिनियम, वस्त्रोद्योग, मशीनरी, मशीनी औजार, चीनी, जूट और पेट्रोलियम काफ़ी विकसित हो चुके थे। इस्पात और उर्वरकों का उत्पादन, चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान भी, स्थापित क्षमता की तुलना में काफ़ी कम रहा था। इनके अतिरिक्त, कृषि-आधारित उद्योगधन्धे जैसे--चीनी और वस्त्रादि ने अपना अनियमित उत्पादन प्रदर्शित किया था। अन्य उद्योग धंधे, जैसे मिश्र और विशिष्ट इस्पात, अल्युमिनियम, पेट्रोलियम एवं परिष्करण उत्पादों तथा ट्रैक्टर एवं भारी विद्युत उपस्करों के उत्पादन में वृद्धि हुई थी। पाँचवी पंचवर्षीय योजना के दौरान निर्यात की जाने वाली वस्तुओं और सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक बल दिया गया था। यह वास्तव में वह अवधि थी, जबकि पेट्रोलियम के मूल्यों में वृद्धि हो जाने से पूरे विश्व में एक आर्थिक संकट आ गया था। इससे हमारे निवेश लक्ष्य पर भी उल्टा ही प्रभाव पड़ा था। छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान जो औद्योगिक नीति अपनाई गई, उसके अतंर्गत विद्यमान क्षमताओं के इष्टतम उपयोग पर बल दिया गया, उपभोक्ता तथा पूंजी-माल के उत्पादन में मात्रात्मक वृद्धि की गई, और उत्पादकता में अभिवृद्धि की गई। अल्युमिनियम, लेड, जिंक, विद्युत-उपस्कर तथा मोटरगाड़ियों ने क्षमता-रचना के लक्ष्यों को प्राप्त कर लिया था, जबकि मशीनी औजारों, यात्री-मोटरों, मोटर साइकिलों, स्कूटरों और टी.वी रिसीवरों आदि के उत्पादन लक्ष्य पूर्णतया प्राप्त कर लिये गये थे। इस अवधि में इलेक्ट्रोनिक उद्योग ने भी बहुत तेजी से विकास किया था। देश ने माइक्रो कम्प्यूटरों, माइक्रो प्रोसेसरों, संचार-उपस्करों, ब्रोडकास्टिंग और टी.वी. ट्रांसमिशन उपस्करों आदि का उत्पादन भी प्रारम्भ कर दिया है। सातवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान सामाजिक न्याय और उन्नत उत्पादकता सहित वृद्धि प्राप्त करने पर अधिक बल दिया गया था। वर्तमान परिसंपत्तियों (आस्तियों) सहित उत्पादन को इष्टतम स्तर पर लाने तथा विद्यमान क्षमता के पूर्ण उपयोग पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इस योजना अवधि में भी इलेक्ट्रोनिक उद्योग को सबसे अधिक महत्व दिया गया है।

देश में बृहत पैमाने के औद्योगिक खंड का विकास तो हुआ ही, किन्तु इसके अतिरिक्त मध्यम, लघु तथा कुटीर उद्योगों को भी समान रूप से प्रोत्साहन दिया गया। ग्रामीण तथा लघु पैमाने के उद्योगों में प्रचुर वृद्धि हुई, और इनका उत्पादन, कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग 49 प्रतिशत था। इनका प्रमुख लाभ यह है कि इनमें निवेश कम

लगता है, और रोजगार का जनन अधिक होता है। इन उद्योगधंधों की सहायता की जा रही है, जिससे कि वे उन्नति करें और अधिक कुशलतापूर्वक कार्य करने की अपनी प्रौद्योगिकी को आधुनिक बना लें।

कृषि-आधारित उद्योग धंधे

ये वे उद्योग धंधे हैं, जो उन कच्चे पदार्थों पर निर्भर रहते हैं, जिनका उत्पादन कृषि खंड में होता है। ये अधिकांशतः उपभोक्ता-वस्तुओं की रचना करने वाले उद्योग धंधे हैं और इनका महत्व इसलिये अधिक है कि रोज़गार जनन के साथ-साथ कुल औद्योगिक उत्पादन में इनका अपना योगदान रहता है। वस्त्र-उद्योग, चीनी-उद्योग, वनस्पति-तेल और चमड़ा उद्योग कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कृषि-आधारित उद्योग धंधे हैं।

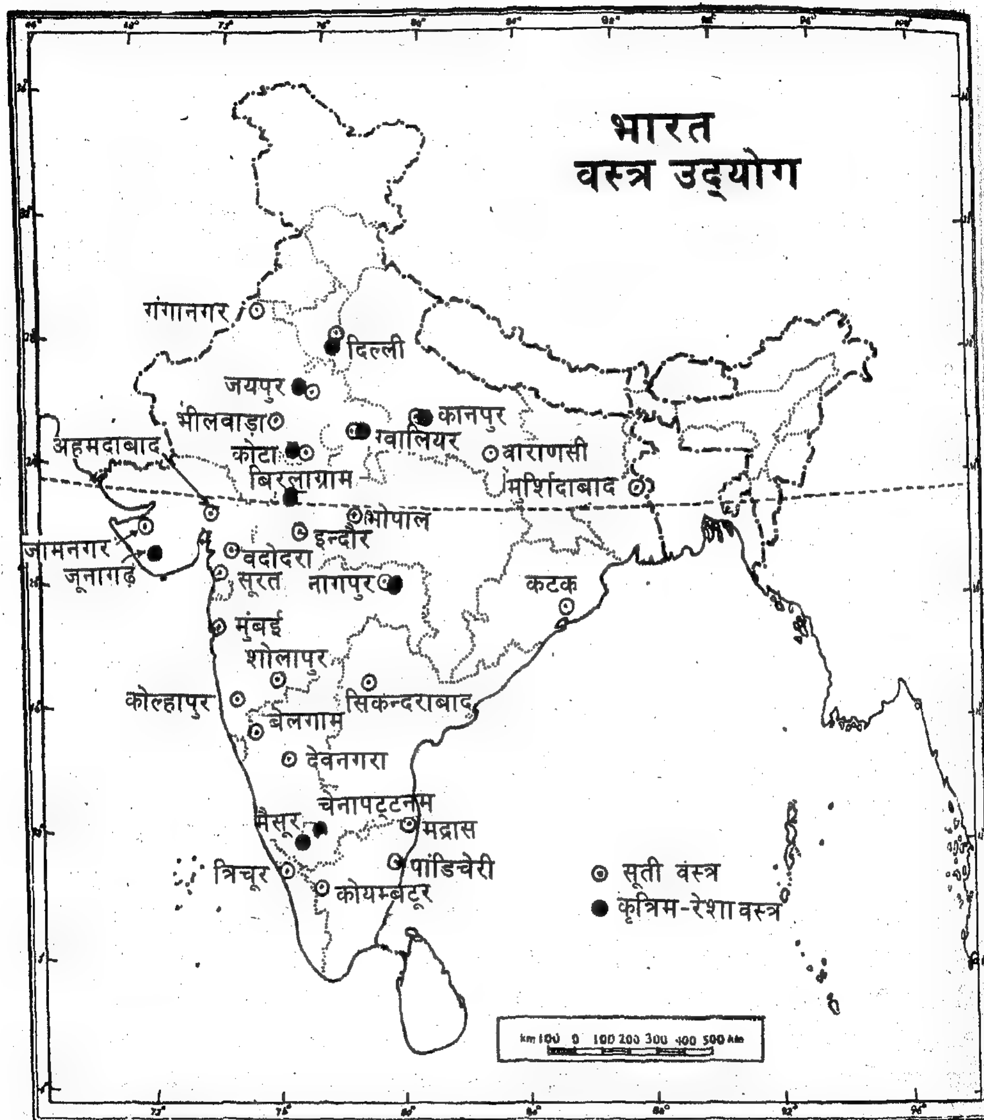
वस्त्र उद्योग

वस्त्र वास्तव में एक व्यापक शब्द है, और इसमें सूती, पटसन, ऊनी, रेशमी तथा कृत्रिम रेशों के वस्त्रोत्पादन शामिल किये जाते हैं।

सूती वस्त्रोत्पादन

यह देश में सबसे बड़ा उद्योग है। इसका जन्म सन् 1818 में उस समय हुआ था, जबकि प्रथम सूती वस्त्र तैयार करने का कारखाना, कलकत्ते के निकट फोर्ट ग्लैस्टर नामक स्थान पर स्थापित किया गया था। परन्तु यह कारखाना अधिक समय तक जीवित न रह सका और अंत में बंद करना पड़ा। आधुनिक सूती वस्त्र तैयार करने वाला प्रथम कारखाना बम्बई में, एक स्थानीय पारसी उद्यमी द्वारा स्थापित किया गया था। बम्बई पत्तन की अवस्थिति, आर्द्र तटवर्ती जलवायु, रसायन उद्योगों का विकास, पूंजी की उपलब्धि तथा बैंक-सुविधाएं आदि कुछ ऐसे कारक हैं जिनकी वजह से बम्बई और उसके आस-पास वस्त्रोत्पादन उद्योगों का विकास हुआ है। सूती वस्त्र उद्योग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र अहमदाबाद है। यद्यपि यहाँ पर सूती वस्त्रोत्पादन कारखानों का आकार लघु है, फिर भी वे उत्तम किस्म के वस्त्रों को तैयार करने की दृष्टि से मशहूर हैं। गुजरात और महाराष्ट्र के कपास उत्पन्न करने वाले प्रदेश, इस उद्योग के लिये कच्चे माल प्राप्त करने के प्रमुख स्रोत हैं।

बृहत घरेलू बाज़ार के कारण, सूती वस्त्र तैयार करने वाले कारखानों का वितरण व्यापक है। यदि बम्बई को एक केन्द्र बिन्दु मान लिया जाये, तो सूती वस्त्र उद्योग यहाँ से शोलापुर और नागपुर तक पहुँच गया, और फिर यह भरूच, सूरत, वदोदरा, अहमदाबाद तथा भावनगर तक आ गया। दक्षिणी राज्यों में तमिलनाडु एक महत्त्वपूर्ण सूती वस्त्र उत्पादक राज्य है। कोयम्बटूर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। मद्रास, मदुरै और तिरूनेलवेली अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। कर्नाटक में बंगलोर और उसकी पश्च भूमि ने सूती वस्त्र उद्योग को अपनी ओर आकर्षित किया है। उत्तरी राज्यों में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और पश्चिमी बंगाल सूती वस्त्र तैयार करने वाले महत्त्वपूर्ण राज्य हैं। उत्तर प्रदेश में कानपुर, इटावा, मोदीनगर और मुरादाबाद, मध्य प्रदेश के मालवा पठार क्षेत्र में इंदौर, ग्वालियर, भंडौर और देवस, राजस्थान में कोटा और जयपुर, पश्चिम बंगाल में कलकत्ता, हावड़ा, सेरमपुर और श्यामनगर, सूती वस्त्र उद्योग के महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का विस्तार राजस्थान, हरियाणा



Based upon Survey of India Outline Map printed in 1987.
The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.
The boundary of Meghalaya shown on this map is as interpreted from the North-Eastern Areas (Reorganisation) Act, 1971, but has yet to be verified.
Responsibility for correctness of internal details shown on the map rests with the publisher.

चित्र 3.1 भारत-वस्त्र उद्योग

और दक्षिणी पंजाब तक हो गया है। यह प्रदेश निश्चित रूप से अपनी ओर सूती वस्त्र उद्योग को आकर्षित करेगा।

सूती वस्त्र उद्योग ने अपने विकास के दौरान काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग अपनी संरचना में पर्याप्त रूप से जटिल है। इसमें एक तरफ तो हाथ से कता और बुना खादी का क्षेत्र है जिसकी प्रौद्योगिकी काफी पुरानी है, तो दूसरी तरफ बृहत् पैमाने के पूंजी परिपूर्ण आधुनिक कारखाने सम्मिलित हैं। इन दोनों के मध्य एक मध्यवर्गीय क्षेत्र है, जिसमें अधिक श्रम लगा हुआ है जो हैंडलूम और पावरलूम पर कार्य करता है। बड़े पैमाने के कारखाने या तो केवल कातने वाले हैं, या संमिश्र कारखाने हैं। सन् 1988 में 1035 सूती वस्त्र के कारखाने थे, जिसमें से 752 कताई करने वाले और 283 संमिश्र कारखाने थे। सूती धागे का उत्पादन भी पर्याप्त रूप से बढ़ा है। सन् 1950-51 में यह 53.4 करोड़ किलोग्राम था, जो सन् 1986-87 में बढ़कर 152.6 करोड़ किलोग्राम हो गया। मिल क्षेत्र से प्राप्त होने वाले सूती वस्त्र का उत्पादन घट गया था। यह सन् 1950-51 में 340.1 करोड़ मीटर था, किन्तु सन् 1986-87 में केवल 332.0 करोड़ मीटर रह गया। इस ह्रास का कारण सूती वस्त्रोत्पादन कारखानों की असक्रियता और उनमें लगी मशीनों का अप्रचलित होना बतलाया जाता है। इस समय सबसे अधिक सूती वस्त्र मध्यवर्तीय – जैसे हाथ करघा और पावरलूम खडों से प्राप्त होता है। विकेन्द्रीकृत खंड से प्राप्त होने वाले कपड़े का उत्पादन सन् 1950-51 में 81.4 करोड़ मीटर था, जो सन् 1987-88 में बढ़कर 1,007 करोड़ मीटर हो गया।

ऊनी वस्त्रोत्पादन

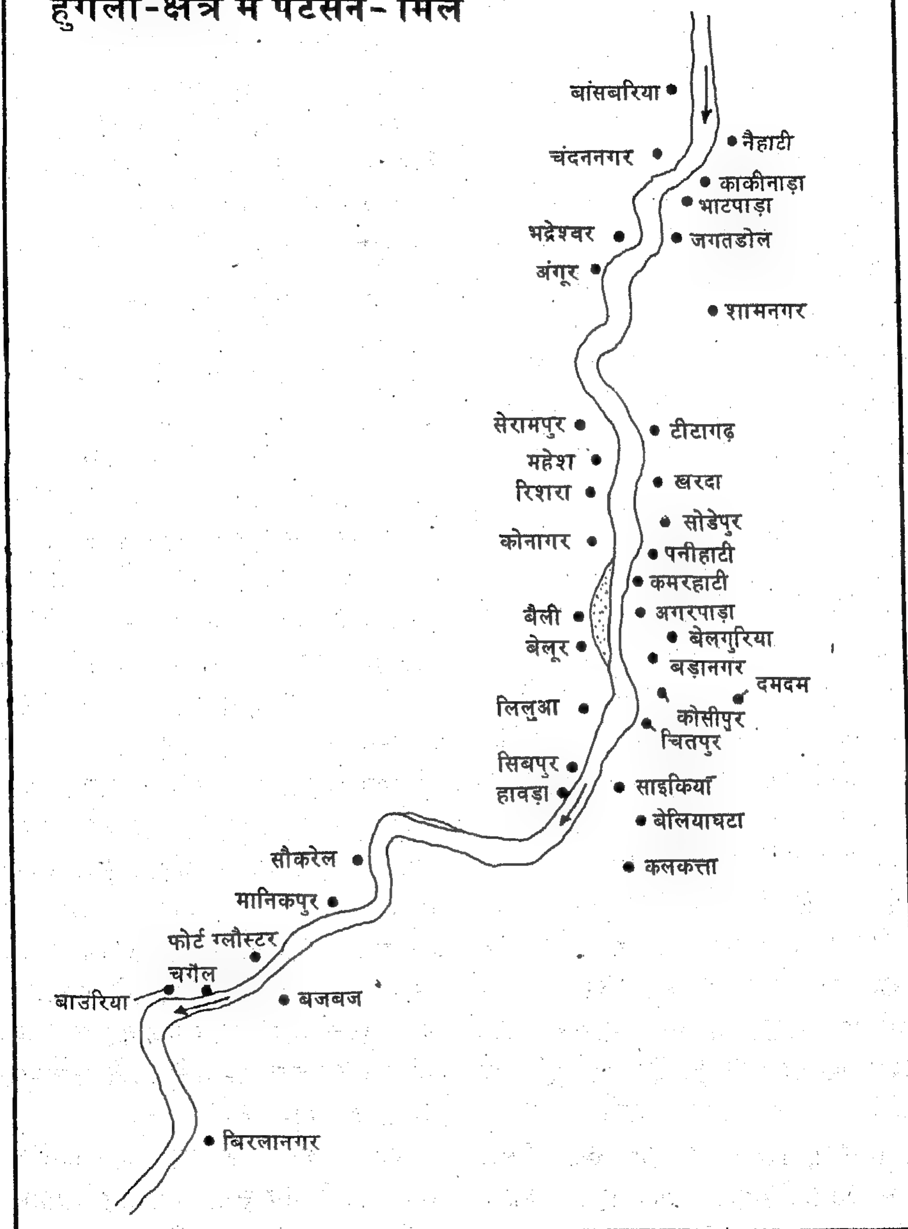
ऊनी वस्त्र तैयार करने वाला प्रथम कारखाना सन् 1876 में कानपुर में स्थापित किया गया था। परन्तु कई कारणों से इस देश में यह उद्योग उन्नति नहीं कर पाया। प्रमुख कारण यह था कि भारत में दीर्घ ग्रीष्मकाल और लघु शीतकाल होता है, इस वजह से ऊनी वस्त्रों की माँग भी कम रहती है। इनके अतिरिक्त जो ऊन यहाँ प्राप्त होती है उसकी किस्म बहुत अच्छी नहीं है। फिर भी स्वतन्त्रता के पश्चात् इस उद्योग का तीव्र गति से विकास हुआ। ऊनी वस्त्र तैयार करने वाले अधिकांश कारखाने उत्तरी पंजाब में उस पट्टी में अवस्थित हैं, जो अमृतसर-गुरदासपुर से लुधियाना तक फैली हुई है। लुधियाना वास्तव में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण होजरी केन्द्र है। ऊनी वस्त्रों की सबसे अधिक माँग सामान्यतः उत्तरी भारत, विशेषतः पहाड़ी प्रदेशों में रहती है। इस प्रकार विनिर्माणी पट्टी बाज़ार के बिल्कुल निकट पाई जाती है। जम्मू और कश्मीर के पशुचारक जैसे–बकरवाल और हिमाचल प्रदेश के गड्डीज़ भेड़ों को पालते हैं, और ऊन की आपूर्ति करते हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र, उत्तर प्रदेश में कानपुर और आगरा, राजस्थान में जयपुर, मध्य प्रदेश में ग्वालियर, गुजरात में जामनगर, महाराष्ट्र में बम्बई, कर्नाटक में बंगलोर और कश्मीर में श्रीनगर हैं। हथकरघों से ऊनी वस्त्र तैयार करने वाला सबसे बड़ा उत्पादक जम्मू और कश्मीर है। ऊनी वस्त्र उद्योग की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसके कारखानों का आकार छोटा है। ऊनी धागे के साथ कृत्रिम रेशे की मिलावट करना या टेरीवूल तैयार करने के कारण एक समस्या यह खड़ी हो गई है कि इस उद्योग में परस्पर गंभीर प्रतियोगिता उत्पन्न हो गई है।

जूट (पटसन) उद्योग

जूट-विनिर्माणी उद्योग, बंगाल में हथकरघा उद्योग के रूप में पाया जाता था। परन्तु बड़े पैमाने पर यह उद्योग सन् 1855 में कलकत्ते के निकट रिशरा नामक स्थान पर स्थापित किया गया था। सन् 1859 में इसी कारखाने में प्रथम पावरलूम लगाये गये थे, और कताई तथा बुनाई दोनों ही कार्य साथ-साथ प्रारम्भ किये गये थे। यह वास्तव में एक निर्यात-प्रधान उद्योग था, इसीलिये इसकी उन्नति बड़ी तीव्र गति से हुई थी। जूट मिलों की संख्या सन् 1884 में 24 थी, जो सन् 1918-19 में 76 तथा सन् 1947 में 116 हो गई थी। सन् 1947 में भारत के विभाजन से इस उद्द्योग की एक विचित्र समस्या उठ खड़ी हुई। विभाजन के पश्चात् लगभग सभी कारखाने भारतवर्ष में रहें, परन्तु पटसन उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का 80 प्रतिशत भाग पूर्वी पाकिस्तान (इस समय बांग्ला देश) में पहुँच गया। दोनों देशों के मध्य राजनीतिक मतभेदों के कारण पूर्वी पाकिस्तान से कच्चे जूट का आयात बंद कर दिया गया था। पश्चिम बंगाल में जूट के अंतर्गत क्षेत्रफल को बढ़ाने के सतत प्रयत्न किये गये, जिसके फलस्वरूप कुछ समय बाद स्थिति काफी सुधर गई। सन् 1950-51 में भारतवर्ष ने 837 हजार टन पटसन के वस्त्र तैयार किये थे, जो सन् 1987-88 में बढ़कर 1195 हज़ार टन हो गये थे। 1986-87 के दौरान जूट वस्त्रों का उत्पादन शिखर पर पहुँच गया था अर्थात यह 1393 हज़ार टन हो गया था। परन्तु सन् 1987-88 में इसके उत्पादन में कमी हो गई। भारतवर्ष में इस समय 69 जूट मिले हैं, इसमें से 6 'नेशनल जूट मैनुफैक्चरिंग कारपोरेशन' जो वस्त्र मंत्रालय के अधीन है, के पास हैं। इन छह कारखानों से, कुल क्षमता का 12 प्रतिशत उत्पादन प्राप्त होता है।

हुगली बेसिन में जूट मिलों का जो संकेन्द्रण (चित्र 3.2) पाया जाता है, उसके लिए कई कारक उत्तरदायी हैं। इसमें से कुछ इस प्रकार हैं : कलकत्ते में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन ब्रिटिश व्यापारियों का शीघ्र आगमन, गंगा बेसिन और ब्रह्मपुत्र घाटी की निचली घाटियों में अनुकूल मृदा तथा शस्य संबंधी उपयुक्त दशाएं, जूट के प्रसाधन के लिये जल की बहुलता, उस हुगली जलमार्ग का लाभ जो कारखानों का संबंध जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों से स्थापित करता है, नम जलवायु, तथा निर्यात के लिये कलकत्ते के पत्तन की सुविधा। इनके अतिरिक्त पश्चिम बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के सघन बसे राज्यों से सस्ता श्रम बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध था।

आधुनिक जूट उद्योग, कुछ समय से भयंकर समस्याओं का सामना कर रहा है। इस पर सबसे अधिक प्रभाव , कृत्रिम पैकिंग पदार्थ से उत्पन्न कड़ी प्रतियोगिता का पड़ा है। ये कृत्रिम पैकिंग पदार्थ पश्चिमी देशों से आ रहे हैं। इसी वजह से पटसन सामग्री का बाजार बहुत घट गया है। बांग्ला देश में जो नये मिल स्थापित किये गये हैं, उनमें उन्नत मशीनें लगी हुई हैं। इसके कारण अब वहाँ उत्तम किस्म के पटसन के सामान तैयार किये जाने लगे हैं। इसीलिये अब हमारे देश के लिये यह आवश्यक है कि वह पुरानी, अप्रचलित मशीनों के स्थान पर नई आधुनिक मशीनें लगाये, जिसके परिणामस्वरूप उत्तम किस्म का जूट-सामान तैयार किया जा सके। नेशनल जूट मैनुफेक्चरिंग कारपोरेशन ने गत वर्षों से अपने कारखानों के आधुनिकीकरण का कार्य प्रारम्भ कर दिया है।



चित्र 3.2 हुगली—क्षेत्र मे पटसन—मिलें

उत्पाद-परिसर में विभिन्नता लाने, वस्तुओं के गुण को सुधारने, कीमत कम करने तथा नये उत्पादों को विकसित करने के प्रयत्न निरन्तर किये जा रहे हैं।

रेशम - वस्त्रोत्पादन

रेशम-उत्पादक के रूप में भारतवर्ष प्राचीन काल से बहुत प्रसिद्ध देश रहा है। मध्यकालीन अवधि में इस उद्योग को शासकों द्वारा संरक्षण प्राप्त हुआ था। सुप्रसिद्ध रेशम-मार्ग भारतवर्ष से होकर गुजरता था। इसीलिये भारतीय रेशम को विश्व-बाज़ार में पाँचवाँ स्थान मिल गया था। भारतवर्ष चार प्रकार का रेशम उत्पन्न करने में मशहूर रहा है। ये इस प्रकार हैं– मलबरी, तसर, एरी तथा मूंगा। भारतीय रेशम उद्योग को इटली और जापान के इन उद्योगों से जो कड़ी प्रतियोगिता करनी पड़ी थी, उसके कारण इसको भारी क्षति पहुँची और गत वर्षों में इसका उत्पादन बहुत गिर गया। संश्लिष्ट रेशे तथा कृत्रिम रेशम, जो कम कीमती होते हैं और आसानी से सुरक्षित रखे जा सकते हैं, असली रेशम की लोकप्रियता को घटाने के लिये उत्तरदायी रहे हैं।

कर्नाटक हमारे देश का सबसे बड़ा रेशम-उत्पादक राज्य है। यहाँ देश के कुल उत्पादन का लगभग 70 प्रतिशत रेशम उत्पन्न होता है। रेशम उत्पन्न करने वाले अन्य महत्वपूर्ण राज्यों में असम, पश्चिम बंगाल, बिहार एवं जम्मू और कश्मीर हैं। भारतीय रेशम की माँग यूरोपीय तथा एशियाई बाजारों में बहुत अधिक रहा करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत रूस, सऊदी अरब, कुवैत तथा सिंगापुर रेशमी कपड़े तथा स्कार्फ के प्रमुख आयातक देश हैं।

चीनी उद्योग

शर्करा के रूप में चीनी का सन्दर्भ भारतीय आलेख में पाया जाता है। इससे इस बात का स्पष्ट रूप से पता चलता है कि भारत में प्राचीन लोग शक्कर बनाने की कला भली-भाँति जानते थे। विश्व में, गन्ना उत्पन्न करने वाला सबसे बड़ा क्षेत्र भारत में है। यदि हम गुड़, खाडसारी तथा चीनी को सामूहिक रूप से लें, तो यह देश चीनी के उत्पादन में विश्व का सबसे बड़ा देश माना जायेगा। हमारे देश का आधुनिक चीनी उद्योग बहुत पुराना नहीं है। यह तो बीसवीं सदी के प्रथम दशक के दौरान प्रारम्भ हुआ था। भारत में चीनी उद्योग गन्ने पर आधारित है, जो वास्तव में भार-क्षतिग्रस्त कच्चा माल है। गन्ने को अधिक समय तक भंडार में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उसके मिठास-अंश की क्षति बहुत अधिक हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसका परिवहन लम्बी दूरी तक भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिवहन कीमत में यदि वृद्धि होगी, तो उत्पादन-कीमत भी काफी बढ़ जायेगी। इसके साथ ही साथ रास्ते में गन्ने सूख भी सकते हैं। इसीलिये चीनी उद्योग उन प्रदेशों में स्थापित हुए हैं, जहाँ गन्ने की खेती की जाती है। चूँकि गन्ने की कटाई केवल एक विशेष ऋतु में होती है इसलिये चीनी के कारखाने वर्ष के एक भाग में ही चलते हैं, अर्थात उस समय जबकि गन्ना कुचलने के लिये तैयार हो जाता है। यही कारण है कि काफी समय तक कारखाने व्यर्थ पड़े रहते हैं। इन कठिनाईयों ने चीनी के उत्पादन को सीमित कर दिया है।

कृषि आधारित उद्योगों में भारतवर्ष के चीनी उद्योग का द्वितीय स्थान है। सन् 1950-51 में यहाँ 138 इकाईयां थीं, जिनका चीनी का कुल

उत्पादन 11.3 लाख टन था। सन् 1987 में इन इकाईयों की कुल संख्या 377 हो गई, और उत्पादन बढ़कर 85 लाख टन हो गया। चीनी का कुल उत्पादन अगले वर्ष बढ़कर 91 लाख टन हो गया था। चीनी उत्पन्न करने वाले 377 कारखानों में से 204 ऐसे थे, जो सहकारी क्षेत्र के अंतर्गत थे।

उत्तर प्रदेश, चीनी उत्पन्न करने वाला प्रमुख राज्य है। इस राज्य में चीनी उत्पन्न करने वाले दो स्पष्ट प्रदेश हैं। एक प्रदेश में गोरखपुर, देवरिया, बस्ती और गोंडा आते हैं, जो पूर्वी उत्तर प्रदेश में हैं। दूसरे में ऊपरी गंगा मैदान का भाग आता है, जिसमें मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, बिजनौर और मुरादाबाद स्थित हैं।

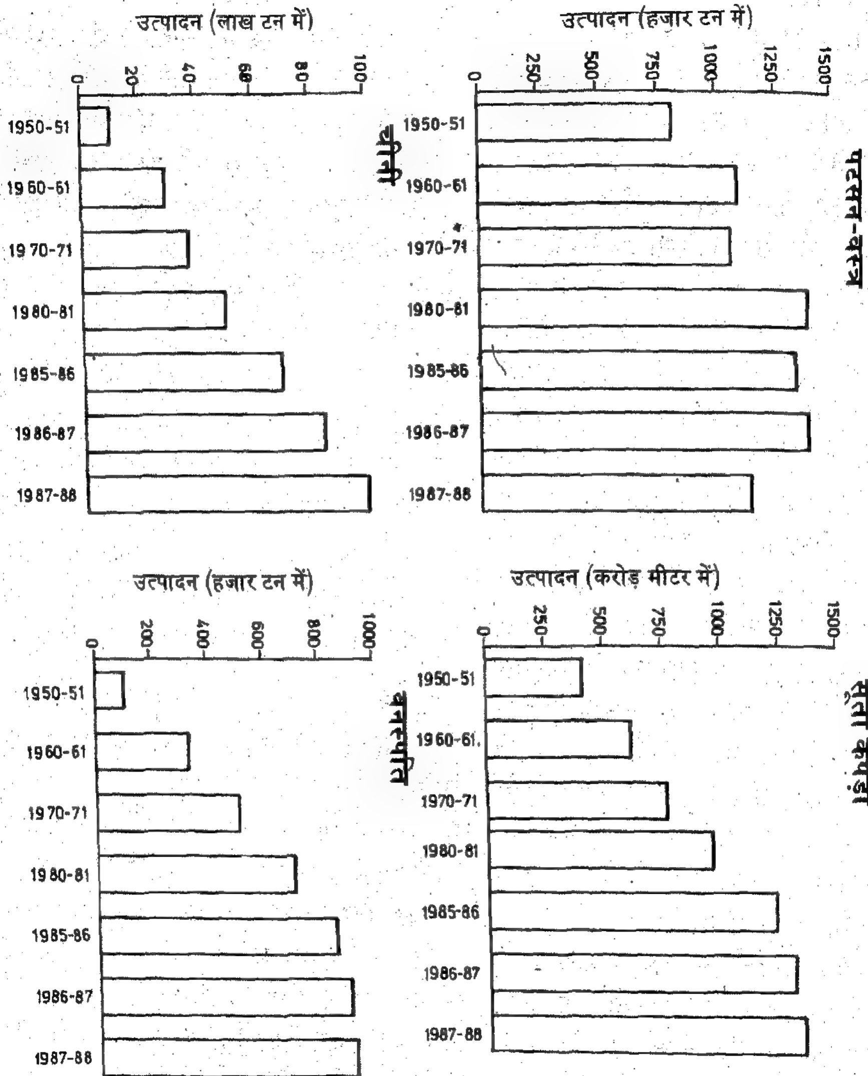
पूर्वी उत्तर प्रदेश की पट्टी का विस्तार और भी पूर्व में बिहार तक है, और इसमें दरभंगा, सारन, चम्पारन तथा मुजफ्फरपुर के जिले शामिल हैं। पंजाब में भी गन्ना उत्पन्न किया जाता है। यहाँ अधिकांश चीनी उत्पन्न करने वाले कारखाने चेनाब। नदी के पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों में स्थित हैं। प्रमुख केन्द्र फागवारा और धुरी, अम्बाला, रोहतक तथा पानीपत हैं। ये हरियाणा में चीनी उत्पन्न करने वाले बड़े महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। राजस्थान के गंगानगर और उदयपुर जिलों में चीनी उत्पन्न की जाती है।

प्रायद्वीपीय भारत में महाराष्ट्र एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण राज्य है, जहाँ गन्ने की खेती और चीनी के कारखाने सहकारी क्षेत्र में समेकित हैं। चीनी उत्पन्न करने वाले प्रमुख केन्द्र नासिक, पुणे, सतारा, साँगली, कोल्हापुर और शोलापुर हैं। तमिलनाडु और कर्नाटक में कुल मिलाकर छह चीनी उत्पन्न करने वाले केन्द्र हैं। आन्ध्र प्रदेश में चीनी उत्पन्न करने वाले कारखाने गोदावरी के पूर्व और पश्चिम, विशाखापट्टनम, निजामाबाद, मेडक और चित्तूर में अवस्थित हैं।

उत्तरी तथा प्रायद्वीपीय भारत के चीनी उद्योगों के मध्य विशिष्ट अंतर पाये जाते हैं। गन्ने की प्रति इकाई क्षेत्रफल की उपज, उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक है। दक्षिण में गन्ने की उष्णकटिबंधीय किस्म में मिठास का अंश बहुत अधिक है। दक्षिण में गन्ना कुचल कर रस निकालने की ऋतु भी लम्बी होती है, क्योंकि यह अक्टूबर में प्रारम्भ होती है, और मई एवं जून तक रहती है। दूसरी ओर, उत्तर में गन्ना कुचल कर रस निकालने की ऋतु नवम्बर से फरवरी तक ही रहती है। वास्तव में चीनी उद्योग के विकास की ओर ध्यान देना बहुत आवश्यक है, क्योंकि इससे विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। आजकल हम अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में क्यूबा और इंडोनेशिया से एक कड़ी प्रतियोगिता का सामना कर रहे हैं।

वनस्पति - तेल उद्योग

वनस्पति तेल, वास्तव में भारतीय जनता के भोजन में चर्बी का एक प्रमुख स्रोत है। यह व्यापक रूप से उपयोग में लाया जाने वाला एक पकाने वाला माध्यम है। उपयोग में लाये जाने वाले भोज्य तेल की किस्म भारत के एक भाग में, दूसरे भाग से भिन्न है। उपयोग में लाई गई प्रौद्योगिकी के आधार पर तेल उद्योग को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। गाँवों में तेल निष्कासन की प्रमुख प्रौद्योगिकी 'घानी' के नाम से जानी जाती है। स्थानीय कच्चे माल (आयल सीड) उदाहरण के लिये मूंगफली गुजरात में, नारियल केरल में, और सरसों उत्तर प्रदेश में इस उद्देश्य के लिये उपयोग में लाये जाते हैं। वे कारखाने जो मध्यम स्तर की



चित्र 3.3 कृषि–आधारित उद्योग

प्रौद्योगिकी का उपयोग कर रहे हैं, नगरों में अवस्थित हैं। इस उद्योग में जो कच्चे माल (आयल सीड) उपयोग में लाये जाते हैं वे इस प्रदेश के विशिष्ट पदार्थ हैं। तीसरे प्रकार के कारखाने वे हैं जो बड़े-बड़े नगरों के निकट अवस्थित हैं। इनको इस ढंग से अभिविन्यासित किया गया है जिससे ये बड़े-बड़े बाजारों की माँग की पूर्ति कर सकें। उन्हें तिलहन, वृहत्तर क्षेत्रों से प्राप्त करना पड़ता है। यद्यपि तेल उद्योग सम्पूर्ण देश में बिखरे हुए हैं, फिर भी उनके आकार एक अवस्थिति से दूसरी अवस्थिति में भिन्न रहते हैं।

वनस्पति (तिल) हाइड्रोजनकृत तेल हैं, और इसका उत्पादन सन् 1950-51 से सन् 1987-88 की अवधि में चौगुने से अधिक बढ़ गया है। सन् 1950-51 में वनस्पति (तिल) का कुल उत्पादन 170 हज़ार टन था, जो सन् 1987-88 में बढ़कर 980 हज़ार टन हो गया था। वनस्पति तेल के उत्पादन में सतत वृद्धि के बावजूद भी, यह देश की आवश्यकता से काफ़ी कम बैठता है और इसीलिये यह विदेशों से आयात करना पड़ता है। भारतवर्ष में सन् 1987-88 में 920 करोड़ रूपये के मूल्य का खाद्दय तेल आयात किया गया था। महाराष्ट्र में वनस्पति (तिल) उत्पादी इकाईयों की सबसे अधिक संख्या पाई जाती है। वनस्पति (तिल) उत्पादी अन्य महत्त्वपूर्ण राज्य उत्तर प्रदेश, गुजरात, पंजाब, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, राजस्थान, तमिलनाडु और मध्य प्रदेश हैं।

हल्के उद्योग

उपभोक्ता-वस्तुओं की रचना करने वाले कुछ उद्योग ऐसे भी हैं जिनको हल्के उद्योग कह सकते हैं। इनके अंतर्गत चमड़े के सामान तैयार करने, कागज, शीशा तथा रबड़ आदि के उद्योग हैं।

चमड़ा उद्योग

भारतवर्ष में पशुधन का एक विशाल समूह पाया जाता है और वह विश्व की कुल गौ-संख्या का लगभग 20 प्रतिशत भाग है। गौ-संख्या में वृद्धि हुई है। सन् 1961 में यह 22.7 करोड़ थी, जो सन् 1982 में बढ़कर 26.2 करोड़ हो गई थी। इस प्रकार भारतवर्ष मृत पशुओं से बहुत अधिक मात्रा में चमड़ा तथा खाल उत्पन्न करता है। भारतीय चर्म उद्योग के दो घटक हैं। चर्म-शोधन तथा चर्म-वस्तुओं जैसे – जूतों, पेटियों तथा पर्सों आदि का विनिर्माण। शोधित चर्म तथा खालों का उपयोग विशेषकर जूते बनाने में किया जाता है। ये उन छोटी-छोटी इकाइयों में बनाये जाते हैं, जो देश भर में फैली हुई हैं। जूते-उत्पादन के प्रमुख केन्द्र कानपुर, आगरा, कलकत्ता, बम्बई और बंगलोर हैं।

भारतवर्ष, सूखा चमड़ा तथा खालों का निर्यात करने वाला एक बड़ा महत्त्वपूर्ण देश था। किन्तु अब वह परिरूपित वस्तुओं को निर्यात करने वाला एक प्रधान देश बन गया है। भारतीय चर्म वस्तुओं के प्रमुख खरीददार देश सोवियत रूस, ब्रिटेन, जापान, इटली और फ्राँस हैं। सोवियत रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा कुछ पूर्वी यूरोपीय देश भारतवर्ष से जूतों का आयात करने वाले प्रमुख देश हैं।

कागज उद्योग

भारतवर्ष में कागज बनाने की परम्परा काफ़ी पुरानी है। प्राचीन काल में लोग भोजपत्र पर लिखते

थे। यह बर्च नामक वृक्ष की छाल है। सर्वप्रथम यवनों ने यहाँ कागज बनाने की कला का प्रारम्भ किया था। वास्तव में प्रथम उद्योग सन् 1832 में सेरमपुर (पश्चिम बंगाल) में स्थापित किया गया था। किन्तु यह अधिक समय तक जीवित न रह सका। फिर भी सन् 1870 में एक नया प्रयत्न किया गया, और कलकत्ते के निकट बालीगंज में एक कारखाना स्थापित किया गया। स्वतन्त्रता के पश्चात कागज और पेपर बोर्ड (गत्ता) बनाने के उद्योग का नियोजित ढंग से विकास किया गया। इसके परिणामस्वरूप सन् 1951 में यहाँ 17 कागज बनाने के कारखाने स्थापित हो चुके थे, जिनकी कुल क्षमता 1.37 लाख टन थी। कागज़ और उससे सम्बद्ध अन्य उत्पादों की बढ़ती हुई माँग के कारण इस उद्योग की बहुत तीव्र गति से उन्नति हुई। सन् 1987 के अन्त तक हमारे देश में 299 इकाईयां थीं, जो कागज और पेपर बोर्ड बनाने में लगी हुई थीं। इसी वर्ष इस देश ने 17 लाख टन कागज और पेपर बोर्ड तैयार किया था जबकि सन् 1970-71 में यह उत्पादन केवल 8 लाख टन था। नेपानगर में स्थित नेशनल न्यूजप्रिंट एण्ड पेपर मिल्स देश में केवल एक इकाई थी, जो सन् 1981 तक अखबारी कागज के विनिर्माण में लगी हुई थी। इस कारखाने ने सन् 1955 में उत्पादन प्रारम्भ कर दिया था। सन् 1981 से अखबारी कागज के विनिर्माण की तीन अन्य इकाईयां प्रारम्भ कर दी गई हैं। भारतवर्ष ने सन् 1987-88 में 258 करोड़ रूपये मूल्य के कागज, पेपर बोर्ड तथा सम्बद्ध उत्पाद विदेशों से आयात किये थे।

बाँस, सबाई तथा सलाई घासें, चिथड़े, व्यर्थ कागज तथा पल्प, मुख्य कच्चे पदार्थ हैं जिनका उपयोग कागज उद्योग में किया जाता है। कागज उद्योग की अवस्थिति पर कच्चे पदार्थ की उपलब्धता का प्रभाव सबसे गहरा पड़ता है। बाज़ार की उपलब्धता का इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। पश्चिम बंगाल को एक लाभ यह था कि यहाँ इस उद्योग का विकास पहले ही हो चुका था। इस राज्य में कागज उद्योग बाँस पर आधारित हैं, जो यहाँ स्थानीय क्षेत्र से उपलब्ध होता है या असम, उड़ीसा और बिहार से प्राप्त कर लिया जाता है। इस उद्योग के लिए सबाई घास मध्य प्रदेश से मंगा ली जाती है। टीटानगर, काकिनारा, नैहाती, कलकत्ता तथा बरानागोर, पश्चिम बंगाल में कागज विनिर्माण के कुछ महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। आन्ध्र प्रदेश में सरपुर और राजामुन्द्री इस उद्योग के महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। महाराष्ट्र भी कागज और पेपर बोर्ड बनाने वाला एक प्रमुख राज्य है। पेपर बोर्ड तैयार करने वाले कारखाने यहाँ विखरोली, कल्याण और गोरेगाँव में हैं, किन्तु कागज-विनिर्माणी इकाईयाँ पुणे, बम्बई, बेलारपुर तथा कैम्पटी नामक स्थानों में स्थित हैं। मध्य प्रदेश में इन्दौर, भोपाल, सेहरे तथा शाहदोल कागज विनिर्माणी महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। कर्नाटक में बेलागोला नामक कारखाना केवल एक ऐसा कारखाना है, जो कच्चे पदार्थ के रूप में खोई (बगासी) का उपयोग करता है। अन्य राज्य जिनमें कागज विनिर्माणी इकाईयां पाई जाती हैं—उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, तमिलनाडु, गुजरात, उड़ीसा तथा केरल हैं। परन्तु इकाईयों की संख्या की दृष्टि से इनकी तुलना पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र से नहीं की जा सकती।

रबड़-वस्तुओ के उद्योग

प्राकृतिक रबड़, तीन दक्षिणी राज्यों—केरल

कर्नाटक तथा तमिलनाडु के रबड़ बागानों से प्राप्त की जाती है। रबड़ की वस्तुओं के विनिर्माण के लिये, कच्चे पदार्थ का एक अन्य प्रमुख स्रोत संश्लिष्ट तथा उद्धारित रबड़ है। मोटरकार उद्योग के विकास और वाहनों की बढ़ती हुई माँग ने रबड़ उद्योगों को प्रेरणा दी है। सन् 1985-86 की अवधि में टायरों की कुल मांग 114.3 लाख थी। केवल टायर उद्योग ने 40 हजार लोगों को प्रत्यक्ष रोजगार दिया है। देश में 24 इकाईयां हैं जिनकी कुल स्थापित क्षमता 227 लाख टायर तैयार करने की है। परन्तु इन इकाईयों ने मिल कर 114 लाख टायर उत्पन्न किये थे। सड़क परिवहन के विकास के साथ-साथ टायर और ट्यूब उद्योग की वृद्धि भी निश्चित है। संश्लिष्ट रबड़ वास्तव में प्राकृतिक रबड़ की एक महत्त्वपूर्ण प्रतिस्थापी है। इस रबड़ को तैयार करने का प्रथम कारखाना सन् 1955 में बरेली में स्थापित किया गया था।

टायर और ट्यूब के विनिर्माण के अतिरिक्त, रबड़ का उपयोग कई अन्य वस्तुओं के उत्पादन में किया जाता है, उदाहरण के लिये जूते, पंखे पेटियाँ, रबड़-होज़ेस, शल्य तथा औद्योगिक रबड़ दस्ताने तथा संचार-पेटियाँ आदि। रबड़ उद्योग, हुगली मेखला तथा बम्बई की पश्चभूमि में संकेन्द्रित हैं।

शीशा-उद्योग

शीशा-उद्योग में प्रयुक्त होने वाले मूल कच्चे पदार्थ बालू, चूना पत्थर, फेल्सपर, सोडा ऐश, सिलिका आदि हैं। ये सब कच्चे पदार्थ भारतवर्ष में उपलब्ध हैं, केवल सोडा ऐश की थोड़ी सी मात्रा विदेशों से आयात करनी पड़ती है। इस देश में प्रथम शीशा उद्योग सन् 1941 में स्थापित किया गया था। उत्तर प्रदेश में फिरोजाबाद, और कर्नाटक में बेलगाम नामक शहरों में कुछ इकाईयाँ ऐसी हैं, जो चूड़ियों और मणिकाओं का विनिर्माण कर रही हैं। उत्तरी भारत में शीशा उद्योग उत्तर प्रदेश में संकेन्द्रित हैं, वह भी उस पेटी में जिसका विस्तार, बिजनौर जिले में बहजोई से मैनपुरी जिले में शिकोहाबाद तक हैं। और भी आगे यह पेटी इलाहाबाद जिले तक फैली हुई है। हाथरस, सासनी, एतमादपुर तथा नैनी कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं जो इस पेटी में अवस्थित हैं। महाराष्ट्र में शीशा उद्योग के केन्द्रों में पुणे, बम्बई, सतारा, नागपुर तथा कोल्हापुर उल्लेखनीय हैं। महाराष्ट्र में जिन वस्तुओं का उत्पादन होता है, उनमें शीशे की बोतलें, चादरें तथा लैम्प मुख्य हैं। शीशा उद्योग का एक अन्य प्रमुख क्षेत्र पश्चिम बंगाल में है, जिसका विस्तार कलकत्ता से आसनसोल तक है। बेलूर, बेलगचियां, रिशरा तथा दुर्गापुर ऐसे मुख्य केन्द्र हैं जिन्होंने शीशी-बोतलें, चादरें, प्रयोगशाला में उपयोग की जाने वाली शीशे की वस्तुएँ और फ्लास्क आदि वस्तुओं के निर्माण में विशेषता प्राप्त कर ली है। शीशे का उद्योग यहाँ कुटीर उद्योग के रूप में भी पाया जाता है।

खनिज - आधारित भारी उद्योग

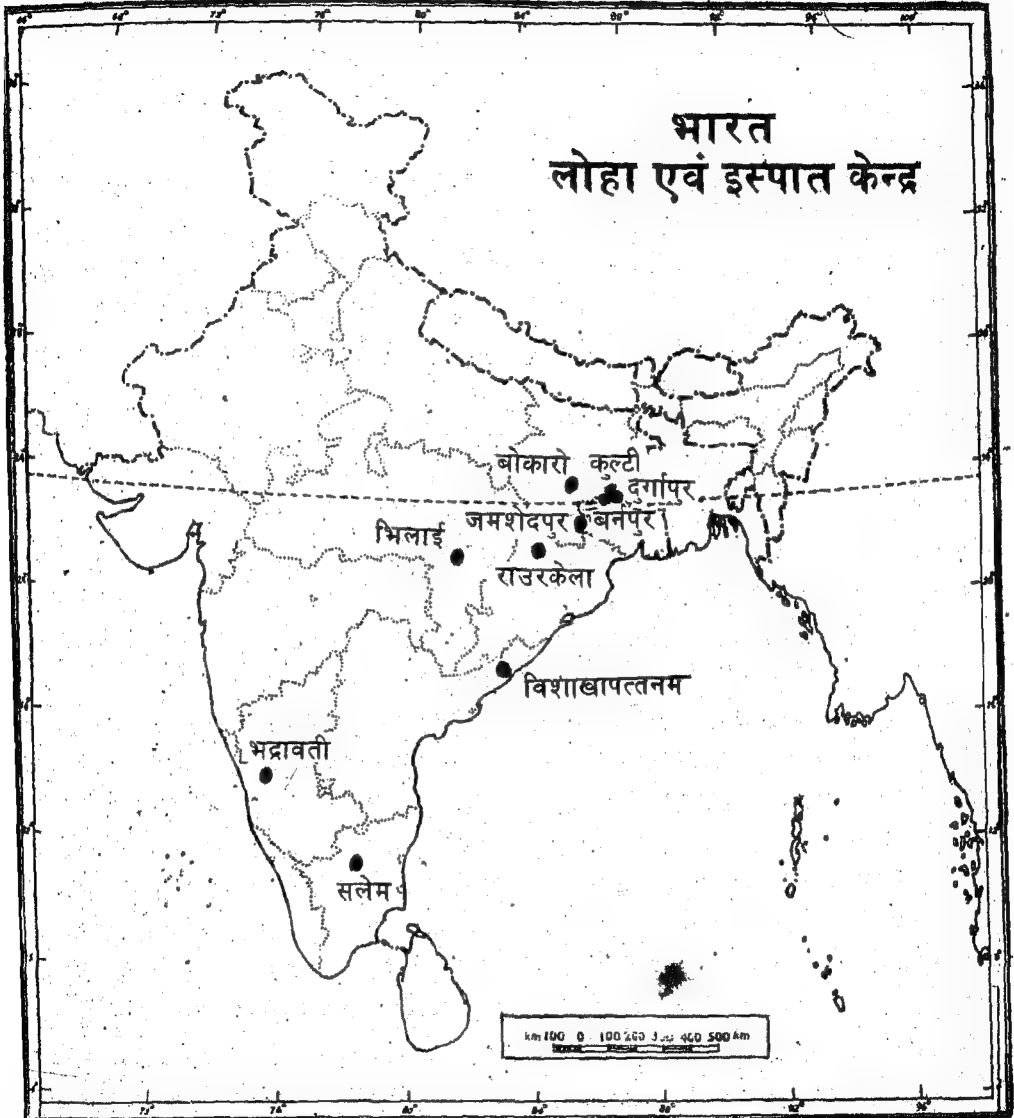
खनिज पदार्थ, वास्तव में उत्पादन के प्राकृतिक साधन हैं, क्योंकि इनसे ऐसे कई उद्योगों अके लिये कच्चे पदार्थ प्राप्त होते हैं, जो लौह तथा अलौह धातुकर्मी प्रक्रमों पर आधारित हैं। लोहा और इस्पात एक आधारभूत उद्योग है, और यह किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिए एक बुनियाद की रचना करता है। भारतवर्ष में यह आर्थिक विकास के लिये मूलभूत सहायता प्रदान करता है।

लोहे और इस्पात का उद्योग

भारतवर्ष में इस्पात बनाने का विज्ञान एवं कला बहुत प्राचीन है। परन्तु आधुनिक उद्योग का जन्म इस देश में सन् 1870 में हुआ था, जबकि प्रथम कारखाने "बंगाल आयरन एंड स्टील वर्क्स" की स्थापना पश्चिम बंगाल में कुल्टी नामक स्थान पर की गई थी। बड़े पैमाने पर इस्पात का औद्योगिक उत्पादन उसी समय संभव हो पाया, जबकि सन् 1907 में जमशेदपुर (उस समय साकची) में "टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी" (टिस्को) की स्थापना की गयी थी। इसके बाद सन् 1919 में बर्नपुर में "इंडियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी" (इस्को) की स्थापना की गई। तत्पश्चात् सन् 1923 में भद्रावती में "मैसूर स्टील वर्क्स" की स्थापना हुई। इस कारखाने को आजकल "विश्वेश्वैरय्या आयरन एण्ड स्टील वर्क्स" के नाम से पुकारते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात लोहे और इस्पात उद्योग की बहुत तीव्र गति से उन्नति हुई। सन् 1950-51 की अवधि में भारतवर्ष ने 16.9 लाख टन पिग आयरन तैयार किया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान लोहे और इस्पात उद्योग का विकास विशेषतौर पर हुआ था। परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में तीन समेकित इस्पात योजनाएं प्रारम्भ की गई थीं। ये भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर में हैं। पिग आयरन का उत्पादन सन् 1987-88 में बढ़ कर 109 लाख टन हो गया, और इस प्रकार से इस्पात का उत्पादन इसी वर्ष बढ़कर 98 लाख टन हो गया।

बिहार के सिंघभूम जिले में जमशेदपुर में भारत का सबसे प्राचीन इस्पात संयत्र अवस्थित है। यह वास्तव में गैर सरकारी उद्यम है। इस संयंत्र को हेमेटाइट लौह अयस्क दो स्थानों से प्राप्त होता है। प्रथम—उड़ीसा में मयूरभंज की गुरूमहिषानी नामक खानों से और द्वितीय—बिहार में सिंहभूम जिले के नोआमुंडी नामक खानों से। मैंगनीज, उड़ीसा के केंदूझार जिले के जोडा नामक खानों से प्राप्त होती है। संयंत्र के लिये कोकिंग कोयला 177 किलोमीटर दूर स्थित झरिया खानों से प्राप्त होता है। डोलोमाइट, चूना पत्थर और फायरक्ले जो फ्लक्स पदार्थ के रूप में उपयोग किया जाता है, उड़ीसा के सुन्दरगढ़ जिले से उपलब्ध होता है। कलकत्ता, जो इस संयंत्र से केवल 250 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है, पत्तन की सभी आवश्यक सुविधाएं प्रदान करता है। इसकी औद्योगिक पश्चभूमि में उत्पादक के लिये एक विशाल बाजार मौजूद हैं। इस्पात संयंत्रों को शीतलन कार्यों के लिये बहुत अधिक जल की आवश्यकता पड़ती है। जमशेद्पुर सुवर्णरेखा नदी पर बसा हुआ है। इसके अतिरिक्त खरकाई नदी पर जो संग्रह बांध बनाया गया है। उससे भी जल प्राप्त किया जाता है। जमशेदपुर, सड़क तथा रेल द्वारा कलकत्ता, बम्बई और मद्रास से बहुत ही अच्छी तरह से जुड़ा हुआ है। बिहार और उड़ीसा के अत्यन्त सघन बसे हुए प्रदेशों से सस्ता श्रम प्राप्त हो जाता है। सन् 1987-88 की अवधि में टिस्को ने 22.76 लाख टन कच्चा इस्पात और 19.1 लाख टन बिक्री योग्य इस्पात तैयार किया था।

कुल्टी, बर्नपुर और हीरापुर पर अवस्थित तीनों संयंत्रों को परस्पर मिला दिया गया है, और अब वे इंडियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (इस्को) के नाम से पुकारे जाते हैं। यह कम्पनी सरकारी नियंत्रण और प्रबंध में सन् 1972 में लाई गयी थी। ये तीनों संयंत्र, कलकत्ता-आसनसोल



चित्र 3.4 भारत-लोहा एवं इस्पात केन्द्र

रेलवेलाइन द्वारा मिले हुए हैं। हीरापुर संयंत्र पिग आयरन का उत्पादन करता है, जिसको कुल्टी के संयंत्र को इस्पात तैयार करने के लिये भेज दिया जाता है। रोलिंग मिलें बर्नपुर में स्थित हैं। "इस्को" कम्पनी को लौह अयस्क गुना नामक खानों से प्राप्त होता है। यह कम्पनी पहले, कोयला झरिया से मंगाती थी, जो 137 किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित हैं। परन्तु अब विद्युत शक्ति 'दामोदर घाटी कारपोरेशन' से प्राप्त होने लगी है, और इसका विस्तृत रूप से उपयोग किया जाने लगा है। मैंगनीज़ और चूना पत्थर दोनों ही बिहार और उड़ीसा की निकटवर्तीय खानों से प्राप्त कर लिये जाते हैं। रेल और सड़क द्वारा यह कलकत्ते के बंदरगाह से मिला हुआ है। बिक्री योग्य इस्पात के उत्पादन में वृद्धि हुई है। सन् 1985-86 में यह 5 लाख टन था, जो बढ़कर सन् 1987-88 में 5.42 लाख टन हो गया था। इसके विपरीत कच्चे इस्पात के उत्पादन में थोड़ा ह्रास हुआ है। सन् 1985-86 में यह 5.65 लाख टन था, जो सन् 1987-88 में 5.46 लाख टन हो गया। इसी प्रकार से पिग आयरन का उत्पादन भी काफी गिर गया। सन् 1985-86 में यह 96 हजार टन रह गया था। सन् 1972 में सरकार ने जब इस कम्पनी को अपने हाथों में लिया था, तो भी इसकी प्रगति इतनी प्रभावशाली नहीं हो पाई, जितनी की आशा की जाती थी।

'विस्वेस्वरैय्या आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड', कर्नाटक राज्य के शिमोगा जिले में भद्रावती नामक स्थान पर अवस्थित है। यह संयंत्र सन् 1962 में राज्य नियंत्रण के अधीन आ गया था। इसको लौह अयस्क चिकमंगलूर जिले में अवस्थित केमनगुडी नामक खानों से प्राप्त होती हैं। सन् 1923 में जब इस संयंत्र की स्थापना की गई थी, तब वन-काष्ठ से प्राप्त किये हुए चारकोल का उपयोग प्रगलन (स्मेलटिंग) के लिये किया जाता था, क्योंकि कोयला इस काम के लिये उपलब्ध नहीं था। परन्तु अब यह उस जल-विद्युत शक्ति का उपयोग करता है, जो शारावती पावर प्रोजेक्ट से प्राप्त होती है। मैंगनीज़ और चूना-पत्थर 50 किलोमीटर की त्रिज्या के भीतर आसपास के क्षेत्र से उपलब्ध हो जाते हैं। यह संयंत्र उच्च किस्म का क्रोम इस्पात तैयार करता है।

सार्वजनिक क्षेत्र के अधीन तीन संयंत्र भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर, सन् 1956-62 की अवधि में चालू हो गये थे। इन संयंत्रों की क्षमताएं तृतीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में बढ़ा दी गई थीं। इसके साथ ही बोकारो में एक अन्य इस्पात-संयंत्र स्थापित करने का प्रस्ताव भी मान लिया गया था।

हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड, भिलाई की स्थापना मध्यप्रदेश के दुर्ग जिले में की गई थी। यह आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ प्रदेश है। इसका मुख्य उद्देश्य इस क्षेत्र में औद्योगिक विकास की लहरें लाने का था। यह रेल द्वारा कलकत्ते और नागपुर से जुड़ा हुआ है। भिलाई संयंत्र की स्थापना सोवियत रूस की तकनीकी और वित्तीय सहायता से की गई थी। यह सन् 1959 में चालू हुआ था। यह लौह अयस्क डाली-राझरा श्रेणी से प्राप्त करता है जहाँ हेमेटाइट अयस्क पाये जाते हैं। यहाँ पर कोयला करीब 225 किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित कोरबा तथा करगली क्षेत्रों से प्राप्त किया जाता है। मैंगनीज़ की पूर्ति भंडारा और बालाघाट नामक खानों से होती है, और

चूना-पत्थर नंदिनी खानों से मंगाया जाता है। शक्ति का प्रमुख स्रोत कोरबा का ताप-विद्युत गृह है। भिलाई संयंत्र ने सन् 1987-88 की अवधि में 24.7 लाख टन कच्चा इस्पात और 21.7 लाख टन बिक्री योग्य इस्पात का उत्पादन किया था।

हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड, राउरकेला, उड़ीसा के सुन्दरगढ़ जिले में राउरकेला में अवस्थित है। इस संयंत्र की स्थापना, जर्मन संघीय गणराज्य के सहयोग से की गई थी, और यह भी सन् 1959 से चालू हुआ। यह संयंत्र उस लौह अयस्क का उपयोग करता है, जो सुन्दरगढ़ और क्योंझार जिलों से प्राप्त की जाती है। लौह अयस्क के ये स्रोत संयंत्र स्थल से 77 किलोमीटर की दूरी के अन्दर स्थित हैं। कोयला, 225 किलोमीटर की दूरी पर उपस्थित झरिया और 169 किलोमीटर की दूरी पर स्थित तालचर खानों से प्राप्त किया जाता है। जल विद्युत शक्ति यहाँ हीराकुंड जल विद्युत गृह से प्राप्त होती है। इस संयंत्र को मैंगनीज़ बड़ाजामदा से, डोलोमाइट बड़ाद्वार से तथा चूना-पत्थर पूर्णपानी से मिलता है। ये पदार्थ उड़ीसा में उन स्थानों से उपलब्ध होते हैं जो 222 किलोमीटर की त्रिज्या के अन्दर स्थित हैं। राउरकेला नागपुर-कलकत्ता रेलवे लाइन द्वारा मिला हुआ है। कलकत्ता से इस संयंत्र को पत्तन सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं और इसकी पश्चभूमि इसे बाजार प्रदान करती है। सन् 1987-88 में यहाँ कच्चे इस्पात का कुल उत्पादन 11.14 लाख टन, बिक्री योग्य इस्पात का 11.6 लाख टन, तथा बिक्री योग्य पिग आयरन का 97 हजार टन था।

हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड, दुर्गापुर की स्थापना ब्रिटेन की सहायता से हुई है और यहाँ उत्पादन सन् 1962 से प्रारम्भ हुआ है। यह पश्चिम बंगाल के वर्द्धमान जिले में दुर्गापुर नामक स्थान पर स्थित है। कलकत्ता और आसनसोल रेलवे लाइन इसको अन्य भागों से मिलाती है। इस संयंत्र को लौह अयस्क केन्दूझार जिले के बोलनी खानों से प्राप्त होता है। कोयला झरिया नामक कोयला खानों से और जल विद्युत शक्ति दामोदर घाटी निगम से प्राप्त होती है। इसको चूना-पत्थर सुन्दरगढ़ के बीरमित्रपुर नामक स्थान से और मैंगनीज़, उड़ीसा के केन्दूझार जिले के जामदा खानों से मिलता है। कलकत्ता सबसे निकट का बन्दरगाह है और नगर की पश्चभूमि एक बृहत बाजार है। इस संयंत्र ने 9.4 लाख टन कच्चा इस्पात, 8.4 लाख टन बिक्री योग्य इस्पात और 1.8 लाख टन बिक्री योग्य पिग आयरन तैयार किया था। दुर्गापुर के एलॉय स्टील प्लांट की क्षमता 1.6 लाख टन शिलिका इस्पात तैयार करने की थी जिसे बाद में बढ़ा कर 2.6 लाख टन कच्चा इस्पात उत्पन्न करने की कर दी गई।

बोकारो स्टील प्लांट की स्थापना तृतीय पंचवर्षीय योजना के दौरान हुई थी, और उत्पादन सन् 1972 से प्रारम्भ हुआ था। इस संयंत्र की अवस्थिति बिहार के हजारीबाग जिले में उस स्थान पर है जहाँ बोकारो और दामोदर नदियों का संगम है। यह वास्तव में सोवियत रूस के सहयोग से स्थापित किया गया द्वितीय संयंत्र है। इस संयंत्र को लौह अयस्क, उड़ीसा के केन्दूझार जिले के किरीबुरू खानों से प्राप्त होता है, जबकि कोयला झरिया खानों से प्राप्त होता है। इसे जल-विद्युत शक्ति दामोदर घाटी निगम से प्राप्त होती है। चूना-पत्थर बिहार के पलामू जिले से आता है। बोकारो की क्षमता 40 लाख टन कच्चा इस्पात

और 32 लाख टन बिक्री योग्य इस्पात तैयार करने की है। सन् 1987-88 में इस संयत्र ने 24.2 लाख टन कच्चा इस्पात और 19.7 लाख टन बिक्री योग्य इस्पात तैयार किया था।

चौथी पंचवर्षीय योजना की अवधि में तीन और इस्पात कारखानों की स्थापना की योजना बनाई गई थी। इनके बन जाने से पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान इस्पात की माँग पूरी हो जाने की सम्भावना थी। इन संयंत्रों में से एक तमिलनाडु के सेलम नामक स्थान पर, दूसरा आंध्र प्रदेश में विशाखापट्टनम में और तीसरा कर्नाटक में विजयनगर (हास्पेट जिला) में स्थापित किया जाना था। इनमें सेलम इस्पात कारखाने की क्षमता 32 हजार टन स्टेनलेस स्टील की शीटें तैयार करने की है। इसने सन् 1982 में वाणिज्य-उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। विशाखापट्टनम स्टील प्रोजेक्ट एक समेकित इस्पात प्रायोजना है। वास्तव में इस संयत्र को डिजाइन करने में कई आधुनिक प्रौद्योगिक लक्ष्यों का समावेश किया गया है। द्रव इस्पात के संदर्भ में इसकी क्षमता 30 लाख टन है।

भिलाई, दुर्गापुर, राउरकेला, बोकारो और बर्नपुर के इस्पात कारखाने, दुर्गापुर का 'एलॉय स्टील प्लॉट' एव सेलम का 'सेलम स्टील प्लाट' समेकित इस्पात संयत्र हैं, और इनके प्रबंध के लिए स्टील ऑथोरिटी आफ इंडिया उत्तरदायी है। यह वास्तव में सरकार द्वारा स्थापित एक उपक्रम है, जो उत्पादन और बिक्री दोनों का प्रबंध करती है।

भारी इंजीनियरिंग और मशीन टूल उद्योग

वास्तव में इंजीनियरिंग उद्योग स्वतन्त्रता पश्चात की घटना है, क्योंकि भारतवर्ष सन् 1947 के पहले अपनी मशीन टूल की आवश्यकता के लिये अन्य देशों पर पूर्णतया निर्भर रहता था। इस उद्योग की आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप अब यह पूंजी-माल तथा उपभोक्ता वस्तुओं की विशेष किस्में उत्पन्न करने लगा है। वे सभी पूंजी-माल जो वस्त्रोत्पादन उद्योग, उर्वरक संयंत्रों, शक्ति परियोजनाओं, सीमेंट, इस्पात और पेट्रो-रसायन कारखानों, खनन, निर्माण तथा कृषि में उपयोग की जाने वाली मशीनों में उपयोग में लाए जा रहे हैं, जैसे— सिंचाई परियोजनाओं के लिये उपस्कर, डीजल- इंजन, पम्प और ट्रैक्टर तथा परिवहन गाड़ियों आदि, उन सबका उत्पादन स्वदेशी है।

'हेवी इंजीनियरिंग कारपारेशन लिमिटेड' की स्थापना सन् 1958 में राँची में की गई थी। इसके प्रबंध के अधीन तीन प्रायोजनायें हैं। प्रथम, हेवी मशीन बिल्डिंग प्लांट, द्वितीय, फाउन्ड्री फोर्ज प्लांट और तृतीय - हेवी मशीन टूल प्लांट। हेवी इंजीनियरिंग कारपोरेशन विशाल मशीनों की रचना करता है, जिनका उपयोग लोहे और इस्पात उद्योग में किया जाता है। "दि माइनिंग एण्ड ऐलाइड मशीनरी कारपोरेशन" दुर्गापुर, कोयला-खनन मशीनों और उपस्करों का सबसे बड़ा उत्पादक है। 'माज़गांव डाक, लिमिटेड' एक मात्र ऐसी कम्पनी है, जिसने 'रिंगों' के विनिर्माण की क्षमता को विकसित कर लिया है। इन रिंगों का उपयोग ऑफ-शोर ड्रिलिंग के लिये किया जाता है। ऑनशोर ड्रिलिंग उपस्करों का विनिर्माण "भारत हेवी इलेक्ट्रिकल लिमिटेड" हैदराबाद करता है। देश में इस समय 14 इकाईयां ऐसी हैं जो वैगनों के विनिर्माण में लगी हुई हैं, इनमें से

चार सार्वजनिक क्षेत्र में हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं, बर्न स्टैंडर्ड कम्पनी लिमिटेट, ब्रौथवेट एण्ड कम्पनी, जेसप एण्ड कम्पनी तथा भारत वैगन एण्ड इंजीनियरिंग कम्पनी लिमिटेड। रेल के इंजनों का विनिर्माण तीन इकाईयों द्वारा किया जाता है। ये इस प्रकार हैं — लोकोमोटिव वर्क्स चितरंजन (पश्चिम बंगाल), डीजल लोकोमोटिव वर्क्स, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) तथा टाटा इंजीनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव कम्पनी लिमिटेड (टेल्को) जमशेद्पुर। "दि हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड" (एच.एम.टी.) विभिन्न प्रकार के मशीन, यंत्र तथा औजार बनाने का एक प्रख्यात कारखाना है। सन् 1986-87 की अवधि में इसने 433 करोड़ रुपये मूल्य के मशीन टूल तैयार किये थे। इसकी इकाईयां बंगलौर, पिंजौर (हरियाणा) कालामासेरी (केरल) और हैदराबाद में है। एच.एम.टी. विभिन्न प्रकार की घड़ियों का विनिर्माण भी करती है। प्राग टूल्स लिमिटेड भी टूल्स कटर्स, औजार, ग्राइंडर्स, धागा लपेटने की मशीनें तथा बेधने के यंत्रों का विनिर्माण करता है। भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड (भेल) एक सार्वजनिक क्षेत्र का उपक्रम है, जो विद्युत शक्ति उत्पादक उपस्करों का निर्माण करती है। इसके विनिर्माणी संयंत्र भोपाल, तिरूचिरापल्ली, हैदराबाद, हरिद्वार, रानीपेट, बंगलौर और जगदीशपुर (उत्तर प्रदेश) में अवस्थित हैं। हाइड्रो टरबाइनों का विनिर्माण 'भेल' के उन संयंत्रों में किया जाता है जो हरिद्वार और भोपाल में स्थित हैं। मेसर्स ज्योति लिमिटेड, बदोदरा, मेसर्स लारसन एण्ड टोब्रो तथा फ्लोवेल कुछ निजी क्षेत्र की इकाईयाँ हैं जो हाईड्रो टरबाइनों का निर्माण कर रहे हैं। दि हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स लिमिटेड, बंगलौर ने विभिन्न प्रकार के वायुयानों के विनिर्माण की क्षमता प्राप्त कर ली है। इसकी विनिर्माणी इकाईयां बंगलौर, कानपुर, नासिक, कोरापुट, हैदराबाद और लखनऊ में हैं।

जलपोत-निर्माण उद्योग के प्रमुख केन्द्र विशाखापट्टनम, बम्बई, कलकत्ता तथा कोचीन हैं। भारतवर्ष के सभी प्रमुख पोत-प्रांगण जैसे— हिन्दुस्तान शिपयार्ड, विशाखापट्टनम, माजगाँव डॉक, बम्बई और कोचीन शिपयार्ड, कोचीन, सार्वजनिक क्षेत्र में आते हैं।

सीमेंट उद्योग

वास्तव में सीमेंट आधुनिक विनिर्माण उद्योग का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संघटक है। इसका उत्पादन सर्वप्रथम मद्रास में सन् 1904 में प्रारम्भ किया गया था। अब हमारे देश में 144 सीमेंट बनाने के कारखाने हैं, जिनकी कुल संस्थापित क्षमता 5.45 करोड़ टन प्रतिवर्ष है। सीमेंट के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। यह सन् 1950-51 में 27.3 लाख टन था जो सन् 1987-88 में बढ़ कर 393.0 लाख टन हो गया था। सीमेंट उद्योग, मूल कच्चे पदार्थों के रूप में चूना पत्थर, मृत्तिका और शेल का उपयोग करता है। इनके अतिरिक्त कोयला और जिप्सम का उपयोग भी सीमेंट विनिर्माण में प्रयुक्त होने वाले अन्य घटकों के साथ किया जाता है। कारखाने कच्चे पदार्थों के निकट इसलिये स्थापित किए जाते हैं, जिससे उनके परिवहन की कीमत कम से कम हो सके क्योंकि वे सभी स्थूल हैं। तमिलनाडु, मध्य प्रदेश, गुजरात, बिहार, राजस्थान, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश सीमेंट उत्पादन के प्रमुख राज्य हैं। इस देश में सीमेंट उद्योग का वितरण बहुत ही

असमान है। सबसे महत्वपूर्ण सीमेंट विनिर्माणी मेखला बिहार से मध्य प्रदेश तक फैली हुई है। इसके आगे यह दक्षिणी राजस्थान तक चली जाती है। इस मेखला में सीमेंट उद्योग के लिए कच्चे पदार्थ विंध्य, कैमूर तथा राजमहल की श्रेणियों से प्राप्त किए जाते हैं। इनके अतिरिक्त आपंक (स्लज) उर्वरक संयंत्रों से तथा धातु मल (स्लैग) लोहे और इस्पात संयंत्रों से उपलब्ध हो जाते हैं। करीब 82 प्रमुख सीमेंट उत्पादी इकाईयों की कुल संस्थापित क्षमता 443.3 लाख टन प्रतिवर्ष थी। संस्थापित क्षमता में गत वर्षों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन् 1949-50 में यह 27 लाख टन थी, जो सन् 1985-86 में बढ़कर 443.3 लाख टन हो गई थी।

रसायन उद्योग

भारतीय अर्थव्यवस्था में रसायन उद्योग का एक बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। आकार की दृष्टि से यह चौथा सबसे बड़ा उद्योग है इसका स्थान लोहे एवं इस्पात, वस्त्रोत्पादन और इंजीनियरिंग उद्योगों के बाद आता है। यद्यपि भारतवर्ष में इसका प्रारंभ हाल ही में हुआ है, फिर भी जैव एवं अजैव दोनों रसायन-उद्योगों में बहुत तीव्र गति से वृद्धि हुई है। वास्तव में विभिन्न प्रकार के उत्पादों जैसे—उर्वरक, दवाईयाँ, विभिन्न प्रकार के रंग, कीटनाशक दवाईयाँ, रंग तथा प्लास्टिक आदि के उत्पादन का उत्तरदायित्व इसी उद्योग पर है। यह एक ऐसा उद्योग है, जिसके लिये उच्च प्रौद्योगिकी का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है, इसीलिये इसमें अनुसंधान और विकास पर विशेष रूप से बल दिया जाता है।

बेसिक रसायन

वे रसायन, जिनका उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है, और जो अन्य उत्पादों के विनिर्माण में कच्चे पदार्थों के रूप में उपयोग किये जाते हैं, **भारी बेसिक रसायन** कहलाते हैं। इस वर्ग में सल्फ्यूरिक एसिड, सोडा ऐश तथा कास्टिक सोडा आदि शामिल किये जाते हैं। वास्तव में सल्फ्यूरिक ऐसिड, प्लास्टिक पेंट, उर्वरक, संश्लेषित रेशों तथा रंजकों के विनिर्माण में एक बेसिक घटक है, और इसका उपयोग चर्म-शोधन के लिये किया जाता है। सल्फ्यूरिक ऐसिड के कुल उत्पादन का 80 प्रतिशत भाग केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल से प्राप्त किया जाता है। कुछ बड़े महत्त्वपूर्ण संयंत्रों की अवस्थिति इस प्रकार है, खेतरी (हिन्दुस्तान कॉपर लिमिटेड), अल्वाए (फैक्ट), बम्बई (धारमसी-मोरारजी कैमिकल्स), जमशेदपुर (टिस्को), बर्नपुर (इस्को), कलकत्ता (बंगाल कैमिकल एण्ड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड) इत्यादि।

सोडा ऐश के विनिर्माण में सोडियम क्लोराइड और चूना पत्थर प्रमुख कच्चे पदार्थ हैं। टाटा कैमिकल्स, मीठापुर (गुजरात), धारांगध्रा कैमिकल वर्क्स, धारागंध्रा (गुजरात), और सौराष्ट्र कैमिकल्स, पोरबंदर इसके उत्पादन की प्रमुख इकाईयां हैं। सोडा ऐश के उत्पादन में पर्याप्त रूप से वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 में यह मात्र 45 हजार टन था जब कि सन् 1987-88 में यह बढ़कर 956 हजार टन हो गया। वास्तव में कास्टिक सोडा, मूलतः सोडा ऐश से एक विशेष रसायन-परिवर्तन द्वारा प्राप्त किया जाता था। इसीलिये जो इकाईयाँ सोडा ऐश का विनिर्माण कर रही थीं, कास्टिक सोडा भी उत्पन्न कर रही थी।

उपरोक्त तीन इकाइयों के अतिरिक्त जे. के. कैमिकल्स, थाने; सेंचुरी रेयन, कल्याण; तथा टीटागढ़ पेपर कम्पनी, टीटागढ़ भी कास्टिक सोडा उत्पन्न करते हैं। वास्तव में कास्टिक सोडा के उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 की अवधि में कुल उत्पादन 12 हजार टन था, जो सन् 1987-88 में बढ़ कर 958 हजार टन हो गया।

हिन्दुस्तान औद्योगिक केमिकल्स लिमिटेड (एच. ओ. सी. एल.) एक सार्वजनिक क्षेत्र का उपक्रम है। इसकी स्थापना दिसम्बर, 1980 में उन रसायनों के विनिर्माण के लिये की गई थी जिनकी आवश्यकता दवाई, रंजकों तथा रबड़ उद्योगों में होती है।

अल्कोहॉल उत्पादी उद्योग सन् 1940 में प्रारम्भ किया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य चीनी-कारखानों में उत्पन्न होने वाले शीरे का उचित उपयोग करना था। इसीलिये अल्कोहॉल पर आधारित सभी रसायन उद्योगों का विकास 1950 और 1960 के दशकों में हो चुका था।

तेल-संकट ने अल्कोहॉल जैसे नवीकरण योग्य भरण-स्टॉक महत्व को पुनर्जीवित कर दिया है। भरण स्टॉक के रूप में अल्कोहॉल पर आधारित प्रमुख उद्योग-धन्धे हैं —ऐसेटिक ऐसिड, ऐसीटोन, बूटानोल, इथाइल एसीटेट, पी. वी. सी. तथा संश्लेषित रबड़ आदि।

कृषि और जन-स्वास्थ्य में पीड़कनाशी (जिसमें कीटनाशी, कवकनाशी तथा रोडेंटनाशी शामिल हैं) के बढ़ते हुए महत्व के कारण भारत में पीड़कनाशी उद्योग में बराबर उन्नति होती रही। दि हिन्दुस्तान इंसेक्टीसाइड लिमिटेड (एच. आई. एल.) एक सार्वजनिक क्षेत्र का उपक्रम है, जो कीटनाशक दवाइयों का विनिर्माण कर रहा है। इस उद्योग की तीन इकाईयां हैं,– उद्योग मंडल (केरल), रसायन (महाराष्ट्र) और दिल्ली। इसकी समनुषंगी कम्पनी-सदर्न पेस्टीसाइड कारपोरेशन का एक कारखाना कोवुर नामक स्थान पर स्थापित किया गया है। दि हिन्दुस्तान इंसेक्टीसाइड लिमिटेड बी. एच. सी., डी. डी. टी., मैलाथियन तथा एन्डोसल्फेन का उत्पादन करती हैं। इन वस्तुओं का भारत में व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है।

उर्वरक

भारतीय कृषि में उर्वरक वास्तव में एक निवेश बन गया है, विशेषतः हरित क्रांति के पश्चात्। वास्तव में कृषि विकास के लिये एक सामरिकी के रूप में इसको अपनाने के बाद इसका उपयोग बहुत ही तेजी से बढ़ा है। पहली अक्टूबर सन् 1987 को हमारे यहाँ पर बड़ी-बड़ी उर्वरक विनिर्माणी इकाईयां थीं, जो नाइट्रोजनी, काम्पलेक्स तथा फास्फोरिक उर्वरकों की उत्पादन कर रही थी। इनके अतिरिक्त करीब 70 छोटी-छोटी इकाईयाँ ऐसी हैं जो मात्र सुपर फास्फेट बना रही हैं। वास्तव में उर्वरक उद्योग की उन्नति स्वयं ही उसके उत्पादन – तल से स्पष्ट हो जाती है। सन् 1950-51 में भारतवर्ष ने 9000 टन नाइट्रोजन उर्वरक का उत्पादन किया। सन् 1988-89 में यह मात्रा बढ़कर 65 लाख टन हो गयी थी। इसी प्रकार से फास्फेटिक उर्वरकों का उत्पादन सन् 1950-51 में 9000 टन था, जो सन् 1988-89 में बढ़कर 23 लाख टन हो गया। सन् 1961 में "फर्टिलाइजर कारपोरेशन ऑफ इंडिया" (एफ. सी. आई.) और सन् 1974 में

"नेशनल फर्टिलाइजर लिमिटेड" (एन. एफ. एल.) की स्थापना हो जाने से इस उद्योग को एक दृढ़ आधार मिल गया। बाद में एफ. सी. आई. और एन. एफ. एल. को पुनर्संगठित कर, भरण-स्टॉक तथा भौगोलिक पहलुओं के आधार पर चार कम्पनियां बना दी गईं। इनके सार्वजनिक क्षेत्र के कारखाने सिन्दरी, नंगल, ट्रोम्बे, भटिंडा, पानीपत, गोरखपुर, नामरूप (असम) दुर्गापुर, बरौनी, रामगुण्डम (आं. प्र.), तलचर (उड़ीसा), उद्योग मंडल (केरल), कोचीन तथा मद्रास में स्थित हैं। इस समय बड़े आकार के 6 नाइट्रोजनी संयंत्र स्थापित किए जा रहे हैं, ये उस गैस पर आधारित है, जो एच. बी. जे. पाईपलाइन के जरिए प्राप्त होती रहेगी। इनके नाम इस प्रकार हैं— विजयपुर (म. प्र.), सवाई माधोपुर (राजस्थान), आंवला, ड़बराला, जगदीशपुर और शाहजहांपुर (सभी उत्तर प्रदेश में)। एक अन्य नाइट्रोजनी उर्वरक संयंत्र काकीनाडा (आं. प्र.) में स्थापित किया जा रहा है।

हल्के रसायन उद्योग

हल्के रसायन उद्योगों के अन्तर्गत दवाइयों, रंगों, प्लास्टिक, वार्निश, साबुन तथा प्रसाधन-सामग्री का निर्माण होता है। संगठित क्षेत्र में 250 दवाई-विनिर्माणी इकाइयां हैं। इनमें से पाँच सार्वजनिक क्षेत्र में और सात निजी क्षेत्र में हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियां इस प्रकार हैं— इंडियन ड्रग्स एण्ड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड (आइ. डी. पी. एल.), दि हिन्दुस्तान एन्टीबॉयटिक्स लिमिटेड (एच. ए. एल.), दि बेंगाल केमिकल्स एण्ड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड (बी. सी. पी. एल.), दि बेंगाल इम्यूनिटी लिमिटेड (बी. आइ. एल.) तथा दि स्मिथ स्टैंस्ट्रीट फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड (एस. एस. पी. एल.)। आई. डी. पी. एल. की अपनी इकाईयां ऋषिकेश, हैदराबाद, मद्रास, गुड़गाँव तथा मुजफ्फरपुर में हैं। इसकी समनुषंगी कम्पनियाँ भी हैं, जो पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और उड़ीसा की राज्य सरकारों के सहयोग से स्थापित की गई हैं। एच. ए. एल. की समनुषंगी कम्पनियां महाराष्ट्र, कर्नाटक और गोआ सरकारों के सहयोग से नागपुर, बंगलोर तथा पानाजी में स्थापित की गई हैं। बी. सी. पी. एल. की चार इकाईयाँ हैं, दो पश्चिम बंगाल में, एक कानपुर में और एक बम्बई में। सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र की इकाईयाँ मिलकर विभिन्न प्रकार की दवाइयाँ, औषधि तथा शल्य यंत्रों की रचना कर रही हैं।

पेट्रो-कैमिकल उद्योग धन्धो ने देश के औद्योगिक स्वरूप में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। पहले भवन निर्माण में परम्परागत कच्चे पदार्थों जैसे—काष्ठ, शीशा तथा धातुओं का उपयोग किया जाता था, परन्तु अब इनके स्थान पर पेट्रो-केमिकल उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपयोग अधिकाधिक किया जाने लगा है। यह उद्योग नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करता है जैसे—प्लास्टिक, संश्लेषित रेशे, संश्लेषित रबड़, संश्लेषित अपमार्जक कच्चे पदार्थ तथा अन्य अनेक वस्तुएँ। इंडियन पेट्रोकेमिकल कारपोरेशन लिमिटेड (आइ. पी. सी. एल.) वदोदरा में एक विशाल पेट्रोकेमिकल कम्पलेक्स की स्थापना, वदोदरा के निकट किया है। इसमें नाना प्रकार के उत्पाद तैयार किये जाते हैं।

औद्योगिक अवस्थिति

लोहे और इस्पात उद्योग की स्थापना

जम्शेदपुर में, शीशा-उद्योग फिरोजाबाद में, चीनी बनाने का कारखाना मवाना (मेरठ) में तथा वस्त्रोत्पादन के कारखाने अहमदाबाद में अवस्थित हैं। प्रश्न यह उठता है ये कारखाने उन्हीं स्थानों पर क्यों स्थापित किए गए हैं जहाँ वे अवस्थित हैं। वे कौन से कारक थे जो इस बात का निर्णय लेने के लिये उत्तरदायी थे कि अमुक स्थान पर ही आर्थिक क्रिया की अवस्थिति निश्चित की जाये। कुछ निर्णय ऐसे होते हैं, जो कई कारकों से उत्पन्न तुलनात्मक भौगोलिक लाभों द्वारा लिये जाते हैं, अन्य ऐसे भी कारक हैं जो सामाजिक, राजनीतिक विचारों से संबंधित है तथा निर्णय लेने में प्रभाव डालते हैं।

कई ऐसे भी भौगोलिक कारक हैं जैसे—कच्चे पदार्थ, ऊर्जा-संसाधन, जल, श्रम, परिवहन तथा बाजार की उपलब्धि जो किसी विशेष उद्योग की अवस्थिति निर्धारित करने में सहायक हैं। इनके अलावा ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कारक भी उद्योग की अवस्थिति निश्चित करने में अपना प्रभाव डालते हैं।

औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक चरणों में कच्चे पदार्थ की उपलब्धता उद्योग धन्धों की अवस्थिति पर बहुत अधिक प्रभाव डालती थी। इसीलिये वस्त्रोत्पादन-कारखानों की अवस्थिति बम्बई और उसके आस-पास है, और इसी प्रकार तमाम जूट के कारखाने हुगली नदी के आस-पास ही पाये जाते हैं।

कच्चे पदार्थों की प्रकृति भी अवस्थिति पर गहरा प्रभाव डालती है। जो उद्योग धन्धे, उन कच्चे पदार्थों पर आधारित हैं जो भारी और स्थूल हैं तथा विनिर्माण के प्रक्रम में भार खोते हैं या नष्टवान हैं, कच्चे पदार्थों के स्रोत के निकट अवस्थित होने की प्रवृत्ति रखते हैं। उदाहरण के लिये हुंगली घाटी में जूट के कारखाने, महाराष्ट्र में चीनी के कारखाने और बिहार, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा में लोहे व इस्पात के कारखाने अपने-अपने कच्चे पदार्थों के स्रोतों के निकट ही उपस्थित हैं। कच्चे पदार्थों के अतिरिक्त ऊर्जा की उपलब्धता एक अन्य महत्वपूर्ण कारक है, जो उद्योग धन्धों की अवस्थिति पर अपना गहरा प्रभाव डालता है।

आधुनिक फैक्ट्री उत्पादन के लिये, यंत्रों को चलाने के उद्देश्य से किसी भी रूप में ऊर्जा का होना अत्यन्त आवश्यक है। लोहे व इस्पात उद्योग, जिसका आरंभ परंपरागत तरीके से ऊर्जा के स्रोत के रूप में कोकिंग कोयले के उपयोग से हुआ, अब सामान्यतः कोयले की खानों से बंध गया है। विद्युत धातुकर्मी तथा विद्युत-रसायन उद्योग धन्धे वास्तव में ऊर्जा-गहन उद्योग धंधे हैं। ये सामान्यरूप से उन्हीं क्षेत्रों में अवस्थित हैं, जहाँ विद्युत शक्ति उपलब्ध हो जाती है। अल्युमिनियम उद्योग वास्तव में ऊर्जा-गहन उद्योग का सबसे सही उदाहरण है। यह उद्योग या तो सस्ती जल विद्युत शक्ति या ताप विद्युत शक्ति के प्रदेशों में अवस्थित है। फिर भी, विद्युत लंबी दूरियों तक पहुँचाई जा सकती है, इसलिये इस प्रकार के उद्योग भी विद्युत केन्द्रों से दूर स्थापित किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये, प्रायद्वीपीय भारत में जहाँ कोयले का अभाव है, औद्योगिक विकास को, सस्ती जल विद्युत शक्ति की उपलब्धता से बढ़ाया जा सकता है। शक्ति का एक अन्य साधन पेट्रोलियम है जिसका परिवहन पाइप-लाइनों द्वारा किया जा सकता है। यदि एक ओर टाटा आयरन और स्टील कम्पनी, जमशेदपुर और कॉपर स्मेल्टिंग प्लांट, खेतरी कच्चे पदार्थों की उपलब्धि से

प्रभावित हुए थे, तो दूसरी ओर नांगल में उर्वरक संयंत्र, मध्य प्रदेश के कोरबा तथा उत्तर प्रदेश के रेनूकूट में अल्युमिनियम बनाने के कारखाने विद्युत शक्ति की उपलब्धता के कारण स्थापित किये गये थे।

कच्चे पदार्थ को विनिर्माण स्थल पर लाने तथा तैयार माल को बाजार तक ले जाने में परिवहन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। भारत में औद्योगिक विकास, तीन पत्तनों—कलकत्ता, बंबई और मद्रास की पश्चभूमियों में इसलिए केन्द्रित हुआ क्योंकि वे पत्तन अपनी पश्चभूमियों से रेल और सड़कों द्वारा अच्छी तरह जुड़े हुए थे। प्रारम्भ में उपनिवेशी शक्तियों द्वारा ये रेलें और सड़कें इसलिये बनाई गई थीं जिससे वे इन पश्चभूमियों से संसाधनों का अवचूषण भली-भांति कर सके और अपने देशों में उद्योगों का विकास कर लें। स्वतन्त्रता के पश्चात्, उपलब्ध अवसंरचना के कारण उद्योग धन्धे इन क्षेत्रों की ओर आकर्षित होने लगे। एक बार जब कुछ उद्योग यहाँ स्थापित हो गये तो इनके परिणामस्वरूप यहाँ की अवसंरचना विशेषतः परिवहन जाल का और अधिक विकास हुआ। इनके अतिरिक्त परिवहन के विविध साधन एक दूसरे के पूरक होते हैं और कुशलता बढ़ाते हैं। स्थल परिवहन (रेलमार्ग, सड़क मार्ग) जल परिवहन तथा वायु परिवहन, परस्पर मिलकर किसी प्रदेश में परिवहन के एक संमिश्र जाल की रचना करते हैं।

श्रम, उत्पादन का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कारक है। इसीलिये वह उत्पादी बलों का एक प्रमुख घटक बना हुआ है। औद्योगिक विकास के लिए श्रम-पूर्ति के दो प्रारूप महत्वपूर्ण हैं। प्रथम, सस्ता श्रम बहुलता से उपलब्ध होना चाहिये। द्वितीय, कुशल कारीगर तथा तकनीकी दृष्टि से प्रशिक्षित बहुत से कर्मचारी भी उपलब्ध होने आवश्यक हैं। उन्नत अर्थव्यवस्थाओं ने मानव श्रम पर निर्भरता को स्वचालित यंत्रीकरण द्वारा कम करने का प्रयास किया है। तृतीय, विश्व की विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में, श्रम के स्थान पर यंत्रीकरण करना अधिक उचित नहीं है, क्योंकि इन सघन बसे हुए देशों में से किसी भी एक में रोजगार जनन एक बहुत बड़ी समस्या है। नगरों में अकुशल श्रम बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, और इस प्रकार श्रम-पूर्ति की समस्या का समाधान उसी समय हो सकता है, जबकि नगर-केन्द्रों के निकट उद्योग धन्धे स्थापित किये जायें। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक अवस्थिति के कई अन्य कारकों की तुलना में श्रम बहुत अधिक गतिशील है। फिर भी कुछ उद्योग धन्धे श्रम-प्रधान होने के कारण उन क्षेत्रों की ओर आकर्षित हुए हैं, जहाँ कुशल और सस्ती श्रम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। उदाहरण के लिये—मुरादाबाद में पीतल के बर्तन बनाने का उद्योग, फिरोजाबाद (उ. प्र.) में चूड़ी बनाने का उद्योग, यमुना नगर (जगाधरी, हरियाणा) में बर्तन बनाने के उद्योग, वाराणसी (उ. प्र.) में बनारसी साड़ी बनाने के उद्योग, आदि वास्तव में ऐसे उद्योग हैं जो इन अवस्थितियों में परम्परागत तरीके से स्थापित हुए हैं।

जल की आवश्यकता सस्ती जल विद्युत शक्ति उत्पन्न करने में होती है। यह विभिन्न उद्योगों में एक निवेश के रूप में भी बहुत आवश्यक है। उदाहरण के लिये लोहे और इस्पात उद्योग में शीतल करने के कार्यों के लिये जल की बहुत आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार वस्त्रोत्पादन उद्योग में भी विरंजन तथा धोने के लिये जल

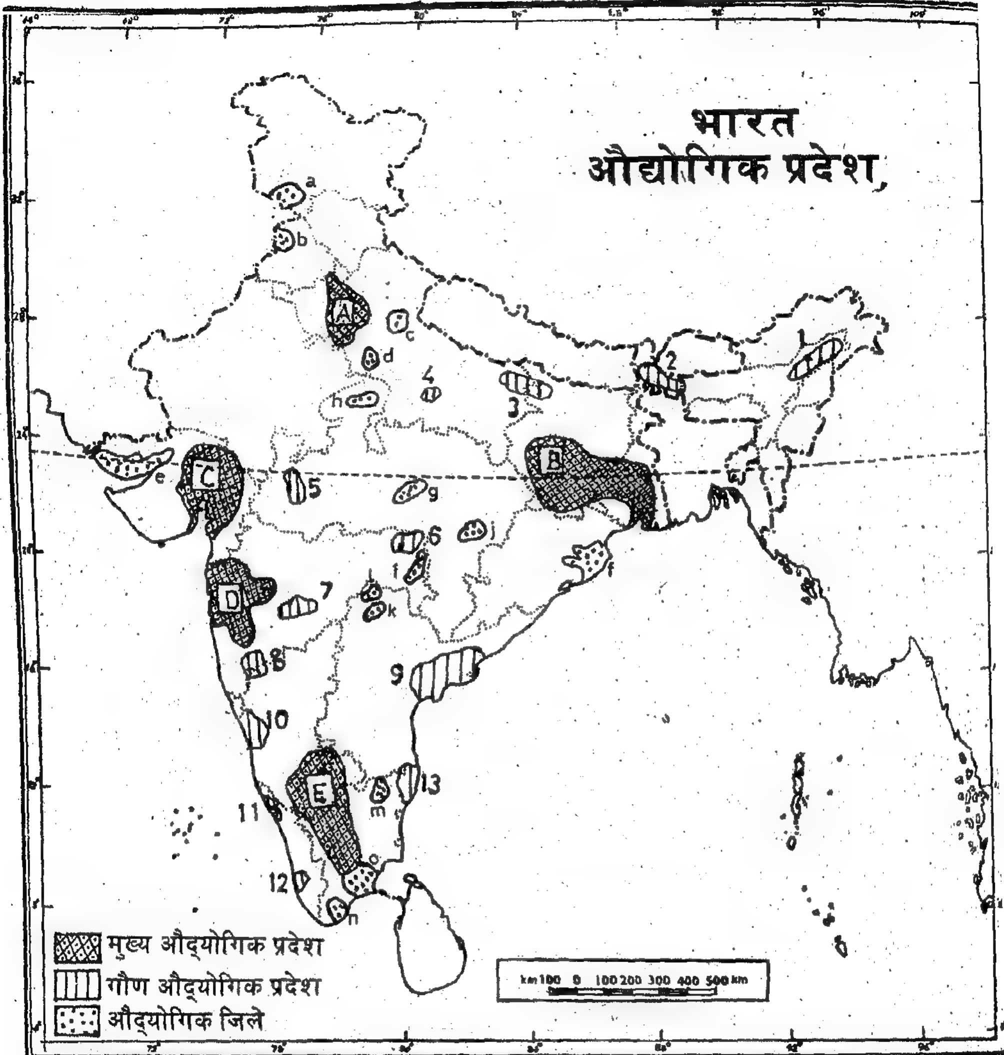
अत्यन्त आवश्यक है। खाद्य संसाधन, कागज और पल्प तैयार करने, जूट-उद्योग, रसायन उद्योग तथा परमाणु शक्ति संयत्रों के लिये जल की विशाल राशि बहुत ही आवश्यक है। इसीलिये ये तमाम उद्योग धन्धे ऐसे स्थानों पर अवस्थित हैं जहाँ जल-पूर्ति प्रचुर है।

किसी भी वस्तु का उत्पादन उपभोक्ताओं के लिये किया जाता है। अतः ऐसे बड़े बाजार का होना बहुत आवश्यक है, जहाँ अधिक माँग रहती हो और ऐसे लोग वास करते हो जिनकी क्रय शक्ति सन्तोषजनक हो। इनसे औद्योगिक विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलता है। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी मांग केवल स्थानीय बाजार में रहती है, परन्तु कुछ ऐसी भी हैं, जिनकी मांग अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में रहा करती है। वास्तव में परिवहन तंत्र में सुधार होने के साथ-साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार भी समेकित हो जाते हैं। अपने उत्पादों के प्रचार द्वारा उत्पादक, उपभोक्ताओं तक पहुँचने की कोशिश करते हैं, और इस प्रकार वे अपने बाजारों की परिसीमाओं का विस्तार करते हैं। बाजारों के प्रसार में सरकारी नीति सहायता भी करती है और सुविधाएं भी प्रदान करती है।

वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी विकास के साथ, उद्योग धंधों की अवस्थिति में भौगोलिक कारकों की भूमिका दृढ़ नहीं रही है। श्रम की बढ़ती हुई गतिशीलता, दीर्घ दूरी ट्रांसमिशन के जरिए शक्ति की व्यवस्था, तथा वैकल्पिक कच्चे पदार्थों की उपलब्धता ने औद्योगिक अवस्थिति के प्रारूप को परिवर्तित कर दिया है। इसके अतिरिक्त बहुत से अन्य कारक भी हैं जो औद्योगिक अवस्थिति को प्रभावित करते हैं, जैसे—पूजी और वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता, प्रबंध-कुशलता एवं सरकार द्वारा अपनाई गई औद्योगिक नीति। भारतवर्ष में सरकारी हस्तक्षेप, जैसे—विकास में प्रादेशिक असंतुलनों को हटाना, उद्योग धंधों की अवस्थितियों को निर्धारित करने के महत्त्वपूर्ण कारक हैं। सरकार प्रादेशिक असंतुलन कई प्रकार से दूर करने का प्रयास कर रही है, जैसे पिछड़े हुए क्षेत्रों में उद्योग धंधों की स्थापना करके, जल, वायु और भूमि के प्रदूषण की रोकथाम द्वारा पर्यावरण का संरक्षण तथा कुछ विकसित प्रदेशों में उद्योग धंधों के अतिसंकेन्द्रण को विसकेन्द्रण प्रक्रम द्वारा रोकना आदि। सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों के नियोजन में इन प्रारूपों का विशेष ध्यान रखा गया है। मथुरा के निकट रिफाइनरी की अवस्थिति, कपूरथला में कोच फैक्ट्री तथा जगदीशपुर में उर्वरक संयंत्र की स्थापना की व्याख्या, औद्योगिक अवस्थिति के परम्परागत भौगोलिक कारकों द्वारा नहीं की जा सकती। कभी-कभी सामाजिक-राजनीतिक कारक इतने महत्त्वपूर्ण होते हैं कि वे अन्य परम्परागत आवश्यक कारकों को महत्त्वहीन कर देती हैं।

औद्योगिक गुच्छ

उद्योग धंधे वास्तव में व्यापक रूप से वितरित नहीं हो सकते, क्योंकि किसी विशेष स्थान पर स्थापित किये जाने वाले उद्योग को आकर्षित करने वाले कारक अन्य स्थानों पर समान रूप से नहीं पाये जाते। भारतवर्ष में औद्योगिक गुच्छन, कुछ विशेषताओं के कारण, केवल कुछ ही प्रदेशों में हो पाया है। चित्र 3.5 से यह स्पष्ट है कि हमारे देश में तीन प्रकार के औद्योगिक गुच्छ पाये जाते हैं — क. बृहत औद्योगिक प्रदेश ख. लघु औद्योगिक



औद्योगिक संकुल

मुख्य औद्योगिक प्रदेश : A. दिल्ली और निकट के प्रदेश, B. बिहार—प. बंगाल औद्योगिक पट्टी, C. अहमदाबाद—वदोदरा औद्योगिक पट्टी, D. बंबई-पुणे औद्योगिक पट्टी, E. बंगलौर-कोयम्बटूर-मदुराई औद्योगिक पट्टी

गौण औद्योगिक प्रदेश : 1. असम घाटी, 2. दार्जिलिंग दुआर, 3. उत्तर बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश मैदान, 4. कानपुर, 5. इन्दौर-उज्जैन-नागदा, 6. नागपुर-वर्धा, 7. शोलापुर, 8. कोल्हापुर-सांगली, 9. गोदावरी-कृष्णा डेल्टा, 10. बेलगाम-धारवाड़, 11. मद्रास-त्रिचूर, 12. क्वीलोन, 13. मद्रास

औद्योगिक जिले : a. जम्मू, b. अमृतसर, c. रामपुर, d. आगरा, e. कच्छ, f. कटक, g. जबलपुर, h. ग्वालियर, i. झांसा, j. रायपुर, k. निजामाबाद, l. अदीलाबाद, m. उ. आरकट, n. तिरूनेलवेली, o. रामनाथ पुरम.

चित्र 3.5 भारत—औद्योगिक प्रदेश

प्रदेश तथा विनिर्माणी जिले।

औद्योगिक गुच्छ को पहचानने के दो आधार हैं, प्रथम—पास-पास स्थित विनिर्माणी इकाइयों की संख्या, द्वितीय—औद्योगिक पर्यावरण। भारतवर्ष में बृहत् औद्योगिक प्रदेशों का विकास कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के पत्तनों के पश्चभूमि में हुआ है। इस गुच्छन का विन्यास ब्रिटिश लोगों ने तैयार किया था, क्योंकि आधुनिक उद्योग-धंधों को कच्चे पदार्थों, शक्ति और बाजारों तक पहुँचना आवश्यक था। पत्तनों से उन कच्चे पदार्थों तक अभिगम्यता प्राप्त हो गई, जो उनकी पश्चभूमि में पाये जाते हैं। साथ ही, उनके द्वारा विश्व बाजारों तक भी अभिगम्यता प्राप्त हो गई। उत्तम परिवहन संबधों के कारण शक्ति के कुछ साधन जैसे—कोयला, भी आसानी से लाये जा सकते थे। इस प्रकार से पाँच बृहत् औद्योगिक प्रदेशों का जन्म हुआ, और कुछ समय बाद भारतवर्ष में इन पत्तनों की पश्चभूमि में ये संग्रहित हो गये। इन प्रदेशों में हुगली औद्योगिक पेटी, सबसे प्रमुख औद्योगिक प्रदेश के रूप में उभर कर आई। इसके बाद बम्बई, पुणे-मेखला और फिर अहमदाबाद-वदोदरा पेंटी का जन्म हुआ।

एक नदी पत्तन के विकास में हुगली नदी ने बहुत ही उत्तम स्थल प्रदान किया। कलकत्ता, वास्तव में हुगली मेखला के औद्योगिक गुच्छ के लिये एक केन्द्रक के रूप में सक्रिय रहा। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कलकत्ता एक व्यापार-केन्द्र के रूप में विकसित हो गया था। एक नगर-केन्द्र के रूप में इसका प्रसार, नदी मुहाने से करीब 97 किलोमीटर अन्तः स्थल में हुआ और अब यह वर्तमान औद्योगिक विकास का केन्द्र बन गया है। गंगा, ब्रह्मपुत्र और उनकी सहायक नदियों ने मिलकर समृद्ध पश्चभूमि में अन्तर्देशीय जल मार्ग संबंध स्थापित किये हैं, क्योंकि ये नदियां नौकागम्य हैं। बाद में इन नौकागम्य नदियों से बनी कड़ियों को सड़क और रेल मार्गों द्वारा पूरकता और मज़बूती मिली। इससे कलकत्ता पत्तन के प्रसार में और भी अधिक लाभ हुआ।

असम और पश्चिम बंगाल की उत्तरी पहाड़ियों में चाय-बागान का विकास, जूट और नील का प्रारम्भिक दिनों में प्रसाधन और छोटा-नागपुर पठार प्रदेश में कोयला और लौह अयस्क की खोज के कारण हुगली औद्योगिक प्रदेश का विकास बहुत अधिक हुआ है। बिहार, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग सघन जनसंख्या वाले राज्य हैं, और यहाँ से अन्य राज्यों की ओर प्रवास होता रहा है। इनसे हुगली औद्योगिक प्रदेश को सस्ता श्रम भी उपलब्ध हुआ है। कलकत्ता ने ब्रिटिश इंडिया (1773-1912) की राजधानी होने के कारण अपने आस पास के क्षेत्र में ब्रिटिश पूंजी-निवेश आकर्षित किया। हुगली नदी के किनारे जब प्रथम जूट उद्योग स्थापित किया गया था, तब उस समय से इस प्रदेश में आधुनिक औद्योगिक संकेन्द्रण का काल प्रारम्भ हो गया था। जो कोयला दामोदर घाटी से प्राप्त होता था, उससे उन उद्योग धन्धों के लिये शक्ति के साधन प्राप्त हुए, जो हुगली नदी के दोनों किनारों पर स्थापित होते जा रहे थे। सन् 1921 तक, कलकत्ता-हुगली प्रदेश, भारत में फैक्ट्री रोजगार के दो-तिहाई भाग के लिये उत्तरदायी हो गया था।

सन् 1947 में देश के विभाजन ने इस औद्योगिक प्रदेश पर उल्टा ही अभाव डाला। भारतवर्ष का 80 प्रतिशत जूट का क्षेत्रफल पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्ला देश) को चला गया। इससे

उन जूट कारखानों के लिए पटसन अभाव की समस्या खड़ी हो गई, जो भारत में हुगली नदी के दोनों किनारे पर स्थापित थे। इससे पश्चिम बंगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में जूट के अन्तर्गत क्षेत्रफल को बढ़ाना आवश्यक हो गया, और इस प्रकार कारखानों की मांग को पूरा किया गया। देश के विभाजन का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि असम के साथ अन्तर्देशीय जल-संबंध भी टूट गया। हुगली नदी में बहुत अधिक गाद एकत्रित हो जाने से एक अन्य बृहत् समस्या भी उठ खड़ी हुई। कलकत्ता पत्तन को क्रियाशील बनाने के लिये नदी-प्रणाली से गाद को हटाना आवश्यक हो गया था। फरक्का बैराज, नदी के गाद को हटाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। कलकत्ता के दक्षिण में हल्दिया पत्तन के निर्माण का एक उद्देश्य यह भी था कि कलकत्ता पत्तन पर कार्गो-जलपोतों के दाब को कम किया जाये।

बम्बई-पुणे औद्योगिक प्रदेश का विकास भी प्रारम्भ में ब्रिटिश लोगों ने किया था। इन लोगों ने सन् 1774 में यहाँ एक पत्तन के विकास के लिये बम्बई द्वीप-स्थल को प्राप्त कर लिया था। अप्रैल सन् 1853 में बम्बई और थाना के मध्य, 34 किलोमीटर लम्बे एक रेलमार्ग की रचना से एक ऐसी विकासशील कड़ी का जन्म हुआ, जो इसको अतरंग भाग से जोड़ती है। भोर घाट से होकर पुणे तक तथा थाल घाट से लेकर नासिक तक जो मार्ग बनाये गये उससे वास्तव में बम्बई का प्रभाव, उसकी पश्चभूमि तक और भी अधिक बढ़ गया। सन् 1869 में स्वेज़ नहर के खुल जाने से बम्बई, पत्तन के विकास को और भी अधिक बल मिला। सूती वस्त्र उद्योग के विकास के लिये बम्बई प्रदेश का पर्यावरण बड़ा अनुकूल था। कपास की खेती नर्मदा और तापी नदी के बेसिनों की काली मिट्टी वाले क्षेत्र में होती थी। तटवर्तीय परिस्थिति होने के कारण यहाँ वायु में आर्द्रता बनी रहती है, जो सूत कातने और बुनने के लिये आवश्यक है। यद्यपि यह प्रदेश कोयला-उत्पन्न करने वाले क्षेत्र से काफी दूर स्थित है, फिर भी इसने पश्चिमी घाट प्रदेश में जल विद्युत शक्ति का विकास कर लिया थीं। कपास को निर्यात करने तथा मशीनों व अन्य पदार्थों को आयात करने की जो पत्तन-सुविधाएं थी, उसके कारण पश्चभूमि का पत्तन से इतना गहरा संबंध हो गया कि बम्बई भारतवर्ष का 'कॉटनपोलिस' कहलाने लगा था। सूती वस्त्र उद्योग के विकास के साथ साथ यहाँ रसायन उद्योग का भी विकास होने लगा। अब औद्योगिक केन्द्रों का विकास बम्बई के कुर्ला, घाटकोपर, विलेपार्ले, जोगेश्वरी, अंधेरी, थाने, भांडूप, कल्यान, पिम्परी और पुणे तक हो गया है। बहुत से उद्योग जैसे वस्त्र-निर्माण, इंजीनियरिंग सामान, चमड़े की वस्तुएँ, संश्लेषित तथा प्लास्टिक वस्तुएँ, रसायन पदार्थ, दवाईयाँ, बिजली के सामान, पोत निर्माण, परिवहन तथा खाद्य संबंधी उद्योग धंधे यहाँ की पश्चभूमि में कई स्थानों पर स्थापित हो गये हैं।

सन् 1947 में देश के विभाजन ने वस्त्रोत्पादन उद्योग पर उल्टा ही प्रभाव डाला, क्योंकि सिंचित कपास क्षेत्र, जिससे लम्बे रेशे वाली कपास उन्नत होती थी, का 81 प्रतिशत भाग पाकिस्तान में चला गया। आज बम्बई औद्योगिक प्रदेश के सामने उद्योगों के अत्यधिक जमाव और जगह के अभाव की गंभीर समस्या है। इस प्रदेश से उद्योग धंधों का परिक्षेपण बहुत आवश्यक है,

क्योंकि इसी से इनका विसंकुलन होगा। समुद्र से और भूमि का उद्धार आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं है और इसीलिये इनकी भावी वृद्धि को नियंत्रित करना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तव में अहमदाबाद-वदोदरा औद्योगिक प्रदेश की अंतर्देशीय अवस्थिति है। इस औद्योगिक मेखला का विस्तार अहमदाबाद-वदोदरा और भरूच के मध्य है, और यह गुजरात मैदान के कपास-उत्पन्न करने वाली मेखला के साथ समाप्त हो जाती है। यह प्रदेश एक महत्त्वपूर्ण वस्त्रोत्पादन प्रदेश हो गया है, क्योंकि बम्बई में सूती वस्त्रोत्पादन उद्योग का ह्रास इसलिये होने लगा था, कि भारत के प्रायद्वीपीय भागों से कपास मंगवाने में परिवहन मूल्य अधिक पड़ता था, और इसके अतिरिक्त वहाँ उद्योगों का जमघट भी बहुत अधिक था। यह औद्योगिक प्रदेश वास्तव में कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र में आता है। इस प्रदेश को दो लाभ हैं। प्रथम, कच्चे पदार्थ की निकटता और द्वितीय, गंगा मैदान के सघन जनसंख्या वाले क्षेत्र से निकटता, जो वास्तव में विस्तृत बाजार की रचना करते हैं। कैम्बे की खाड़ी में जो खनिज तेल की खोज हुई है, उसके कारण, अंकलेश्वर और वदोदरा के आस पास पेट्रोकैमिकल संकुलों का विकास हो गया है। कांडला में एक नये बन्दरगाह की स्थापना हो जाने से इस प्रदेश का बहुत तेजी को औद्योगीकरण हुआ है। अब वहाँ विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधे पाये जाते हैं। वस्त्रोत्पादन तथा पेट्रो कैमिकल उद्योगों के अतिरिक्त यहाँ डीज़ल-इंजन, वस्त्रोत्पादन मशीनें, दवाईयां बनाने और खाद्य संसाधन के उद्योग धंधें भी स्थापित हो गये हैं। अहमदाबाद, सूरत, भरूच तथा वदोदरा उस प्रदेश के महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र हैं।

मदुरे-कोयम्बटूर-बंगलोर प्रदेश प्रधानरूप से एक कपास उत्पन्न करने वाला क्षेत्र है, परन्तु इस प्रदेश में रेशम-विनिर्माणी इकाइयाँ बहुत अधिक पाई जाती हैं, इसके अतिरिक्त यहाँ चीनी बनाने के कारखाने, चमड़े के उद्योग रसायन तथा मशीन टूल बनाने के अनेक उद्योग पाये जाते हैं, सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयाँ जैसे—हिन्दुस्तान मशीन टूल लिमिटेड (एच. एम. टी.), इंडियन टेलीफोन इंडस्ट्रीज, भारत इलेक्ट्रानिक्स, हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स तथा विस्वेस्वरैय्या आयरन एण्ड स्टील वर्क्स भी इस प्रदेश में अवस्थित हैं। मदुरे, सिवकासी, तिरूचिरापल्ली, कोयम्बटूर, मदुकोट्टई, मेटूर, बंगलोर, मैसूर तथा मांड्या यहाँ के महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र हैं। इस प्रदेश में कपास और गन्ने की उपलब्धता से, इन दो कृषि आधारित उद्योग धंधों को आधार मिल गया है। मेटूर, सिवसमुद्रम, पापनासम, पाइकारा और शरावती में जो जल विद्युत शक्ति उत्पन्न की जा रही है, उससे इस प्रदेश को ऊर्जा का सस्ता साधन उपलब्ध हो गया है क्योंकि यहाँ पर कोयला नहीं पाया जाता। तमिलनाडु में कोयम्बटूर और कर्नाटक में बंगलोर ऐसे केन्द्र हैं, जिनमें बहुत तेजी से औद्योगिक विकास हुआ है।

वास्तव में छोटा नागपुर पठार के औद्योगिक प्रदेश का विकास मुख्यतः दो कारणों से हुआ है, प्रथम—दामोदर घाटी में कोयले की खान, और बिहार-उड़ीसा खनिज मेखला में लौह अयस्क की उपलब्धि। ये दोनों ही कच्चे पदार्थ इस औद्योगिक क्षेत्र के निकट ही पाये जाते हैं, इसीलिये इनको उपयोग करने की सुविधा मिल गई है। इन कच्चे पदार्थों के अतिरिक्त विद्युत शक्ति दामोदर घाटी में बाँध-स्थल से तथा स्थानीय कोयले पर आधारित

तापीय-विद्युतशक्ति केन्द्रों से उपलब्ध हो जाती है। यह प्रदेश बिहार, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल जैसे घने बसे हुए राज्यों से घिरा हुआ है, इसलिये सस्ता श्रम भी उपलब्ध हो जाता है। छोटा नागपुर प्रदेश में उत्पन्न की गई वस्तुओं के लिये कलकत्ता प्रदेश एक बहुत बड़ा बाजार है। यह नगर इस प्रदेश को पत्तन सुविधा भी प्रदान करता है। इस प्रदेश को लौह-धातु पर निर्भर उद्योग-धंधों को विकसित करने के लाभ भी हैं। टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, इंडियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी और दुर्गापुर तथा बोकारो में स्थित हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड कम्पनी, इस प्रदेश में स्थित बड़े महत्त्वपूर्ण इस्पात संयंत्र हैं। इस प्रदेश के अन्य उद्योग धंधों में भारी इंजीनियरिंग, मशीन टूल्स, उर्वरक, सीमेंट, कागज, रेल के इंजन तथा भारी इलैक्ट्रिकल आदि वस्तुओं का विनिर्माण करने वाले उद्योग महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रदेश के महत्त्वपूर्ण केन्द्र रांची, धनबाद, चाइबासा, सिन्दरी, हजारीबाग, जमशेदपुर, डाल्टनगंज, गरवा तथा जपला हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात अनेक औद्योगिक गुच्छों ने महत्ता प्राप्त कर ली है। इनमें से एक वह औद्योगिक प्रदेश है, जो उत्तर प्रदेश में आगरा-मथुरा, मेरठ-सहारनपुर के मध्य विकसित हुआ है। एक अन्य सामानान्तर पेटी वह है, जो हरियाणा में फरीदाबाद-गुडगाँव-अम्बाला तक फैली हुई है। ये दोनों ही पेटियाँ दिल्ली के निकट एक दूसरे से मिलकर एक समूह की रचना करती हैं। इस प्रदेश के औद्योगिक विकास में सबसे बड़ा योगदान भाखड़ा-नंगल से प्राप्त जल विद्युत शक्ति तथा हरदुआगंज और फरीदाबाद से प्राप्त ताप—विद्युत शक्ति का है। यहाँ पर अधिकांश औद्योगिक इकाईयां कृषि पर आधारित हैं, विशेषतौर पर चीनी और वस्त्रोत्पादन कारखाने। इस प्रदेश के अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योग धंधों में शीशा, रसायन, इंजीनियरिंग, कागज, इलेक्ट्रानिक्स तथा साइकिल आदि हैं। आगरा और उसके आसपास शीशा उद्योग पनप गया है। मथुरा में एक तेल परिष्करणशाला है, जिसके साथ एक पेट्रोकैमिकल कम्पलेक्स भी पाया जाता है। गुड़गाँव में एक कार फैक्ट्री तथा आइ. डी. पी. एल. की एक इकाई पाई जाती है। फरीदाबाद में इंजीनियरिंग तथा इलेक्ट्रानिक्स उद्योग धंधों की कई इकाईयां पाई जाती हैं। गाजियाबाद वास्तव में कृषि पर आधारित उद्योगों, धंधों का एक बहुत बड़ा केन्द्र है। सहारनपुर और यमुनानगर में कागज बनाने के कारखाने हैं। मोदीनगर, सोनीपत, पानीपत तथा बल्लभगढ़ इस प्रदेश के अन्य महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र हैं।

औद्योगिक आत्म निर्भरता के पथ पर

सन् 1956 में निर्धारित औद्योगिक नीति का केवल यह उद्देश्य नहीं था कि उत्पादन और रोजगार अवसरों की वृद्धि में तेजी लाई जाए, बल्कि यह भी था कि वृद्धि-प्रकीर्णन, औद्योगिक विकास में प्रादेशिक असंतुलनों को हटाने तथा ग्रामीण एवं लघु पैमाने के उद्योग धंधों के विकास का नियोजन किया जाये। मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढाँचे के अन्दर आत्मनिर्भरता एक प्रमुख उद्देश्य था। नियोजित विकास इस सीमा तक सफल हुआ है कि अब भारतवर्ष अपने उद्योग में विविधता ला सका है और औद्योगिक उत्पादों का एक व्यापक परास उत्पन्न कर सकता है। इस समय जो सबसे बड़ी सफलता प्राप्त हुई है, वह पूंजी-वस्तुओं के

उत्पादन में हुई है। देश ने उन उपस्करों के उत्पादन में आत्म निर्भरता प्राप्त कर ली है, जो खनन, सिंचाई, शक्ति, परिवहन तथा संचार संबधी उद्योगों में उपयोग किये जाते हैं। तृतीय विश्व देशों में भारत ने सबसे बड़ी संख्या में कुशल मानव-शक्ति का संग्रह किया है। ये पूर्णतया प्रशिक्षित है तथा औद्योगिक विकास के लिये मानव संसाधन-आधार प्रदान कर सकते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग-धन्धों, जैसे—शक्ति, रेलवे, पेट्रोलियम, कोयला, इस्पात तथा उर्वरक, ने हमारे देश के औद्योगिक विकास में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन सार्वजनिक उद्यमों ने पिछड़े प्रदेशों के विकास में एक शक्तिशाली घटक के रूप में कार्य किया है। इन पिछड़े प्रदेशों के विकास में गैरसरकारी उद्यमी किसी भी प्रकार का निवेश नहीं करना चाहते। सातवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान उच्च प्रौद्योगिकी पर बल दिया गया था। इसके अतिरिक्त इलेक्ट्रानिक, उन्नत मशीन औजार तथा दूर-संचार जैसे उच्च-मान तथा अधिक ज्ञान आधारित उद्योग धंधों के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया।

किसी भी स्थान पर उद्योग धन्धों का परिक्षेपण या विकेन्द्रीकरण बहुत ही आवश्यक है, जिससे अत्यधिक औद्योगीकृत मेखला में उद्योगों के जमघट को कम किया जा सके। इससे अवसंरचना भूमि और नागरिक सुविधाओं का दाब भी घट सकता है। इस प्रकार के परिक्षेपण को प्रोत्साहित करने के लिये, रियायतों और सहायकी के रूप में प्रोत्साहन दिये गये हैं। जिन जिलों में 'कोई भी उद्योग नहीं है' वहाँ के लिए विशेष सहायता की योजना शुरू कर दी गयी है। पर्याप्त अवसंरचनात्मक सुविधा के साथ हर जिले में औद्योगिक संपदाओं के विकास से लघु उद्योग-धन्धों की वृद्धि हो सकती है तथा रोजगार के अवसर भी उपलब्ध हो सकते हैं। इस समस्या का समाधान यह है कि कृषि पर जनसंख्या के दाब को कम किया जा सके और कृषि खंड से प्राप्त अधिक श्रम को उद्योग धंधों से लगाया जाये।

अभ्यास

समीक्षा प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिये:
   - (i) विनिर्माण से आप क्या समझते हैं ?
   - (ii) वे कौन से बृहत कारण हैं जो उद्योग धंधों की अवस्थिति पर अपना प्रभाव डाल रहे हैं ? उदाहरण दीजिये।
   - (iii) स्वतंत्रता के पश्चात् स्थापित किये गये लोहे व इस्पात संयंत्रों के नाम बतलाइये।
   - (iv) उद्योग धंधों की अवस्थिति के गैर भौगोलिक कारक कौन-कौन से हैं। उदाहरण सहित अपना उत्तर दीजिये।
   - (v) जमशेदपुर में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की अवस्थिति का मूल्यांकन कीजिए।

2. अतंर बतलाइये

(i) भारी तथा हल्के उद्योग धंधे।

(ii) सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के उद्योग धंधे।

(iii) उपभोक्ता तथा उत्पादक वस्तुओं के उद्योग।

(iv) शुद्ध तथा कुल कच्चे पदार्थ।

3. भारत में औद्योगिक गुच्छों की रचना पर चर्चा कीजिये। महत्त्वपूर्ण गुच्छों के नाम बतलाइये और उनके विकास के कारण बतलाइये।

4. वस्त्रोत्पादन उद्योग बम्बई प्रदेश से अहमदाबाद की ओर क्यों बढ़े हैं ? उपयुक्त उदाहरणों की सहायता से व्याख्या कीजिये।

5. औद्योगिक विकास, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के पत्तनों की पश्चभूमियों तक ही सीमित क्यों रहा ?

क्रिया-कलाप

6. अपने पड़ोस में स्थित किसी औद्योगिक इकाई को देखने का कार्यक्रम बनाइये, और वहाँ उत्पादन-प्रक्रम का अवलोकन कीजिये।

7. एक वाद—विवाद संगोष्ठी का आयोजन निम्नलिखित शीर्षक के अंतर्गत कीजिये– "इस सदन की राय में भारतवर्ष में उद्योग, श्रम-विस्थापी नहीं बल्कि अधिक श्रम अवशोषी होने चाहिये।"

अध्याय 4

परिवहन-तंत्र

उत्पादन एवं उपभोग को जोड़ने में परिवहन तंत्र का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। परिवहन तंत्र, उत्पादन को कच्चे माल के स्थान से जोड़कर इसे सुविधा प्रदान करता है। इसी प्रकार विकसित परिवहन तंत्र की सहायता से स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों तक माल एवं सेवाओं को पहुँचाया जा सकता है। इससे केवल लोगों एवं माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में ही सुविधा नहीं होती बल्कि विचार एवं कौशल को भी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक पहुंचाया जा सकता है। अपने आर्थिक विकास के आदि काल से ही मानव अधिक गतिशील रहा है, चाहे वह आखेटक के रूप में, संग्राहक के रूप में अथवा प्रवासी पशु-चारक के रूप में अपना जीवन यापन करता रहा हो। अपने सांस्कृतिक विकास के लम्बे इतिहास काल में मानव ने विभिन्न प्रकार के परिवहन-साधनों का प्रयोग, एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने के लिए किया है और इस प्रक्रिया में उसका प्रयास रहा है कि कम समय में लम्बी दूरी तय कर सके। सक्षम परिवहन जाल का विकास, आर्थिक विकास का द्योतक होता है।

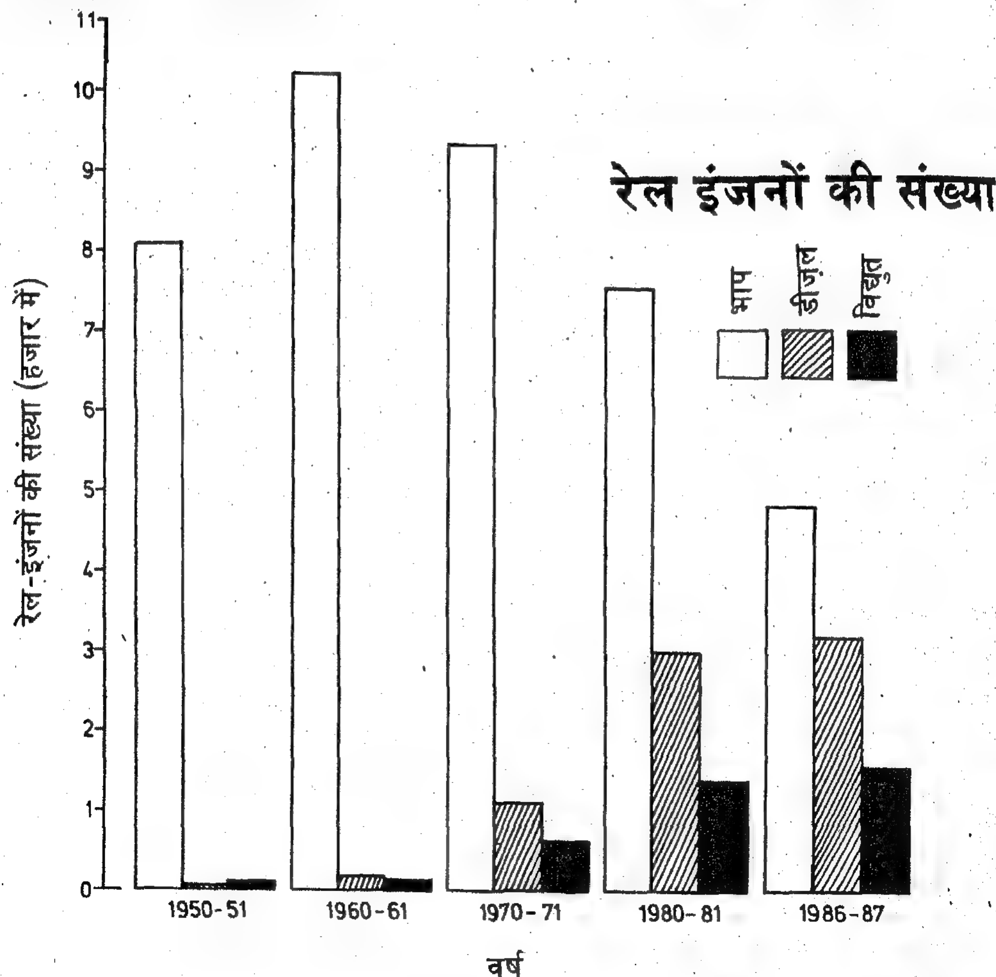
भारत एक विशाल देश है जिस के एक छोर से दूसरे छोर की दूरियां बहुत लम्बी हैं। कश्मीर से कन्या कुमारी तथा कांडला से कोहिमा की दूरी का अनुमान आप स्वयं लगा सकते हैं। इस देश के संसाधन भण्डारों की मात्रा, आर्थिक क्रियाओं, नृजातीय एवं सांस्कृतिक संरचना तथा सम्पूर्ण भौगोलिक दशाओं में विविधता पाई जाती है। भारत की सांस्कृतिक बहुलता का एक कारण परिवहन तंत्र की अनुपस्थिति के कारण विभिन्न क्षेत्रों के मध्य आपसी संचार की कमी रही है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने तथा सद्‌भाव एवं भाईचारे की भावना को जागृत कर देश की विविधता को एकीकृत करने एवं दूर-दूर तक फैले प्रदेशों को एक साथ गूंथने के लिए परिवहन जाल का विकास अत्यावश्यक है। भारत जैसे बड़े देश में अपकेन्द्री बलों को कम करने में भी परिवहन तंत्र का बहुत बड़ा योगदान है। देश की सुरक्षा के साथ साथ, आर्थिक व्यवस्था के समाकलन, एवं सामाजिक अन्तः क्रिया के लिए रेलों, सड़कों, जलमार्गों एवं वायुमार्गों के एक सक्षम परिवहन जाल की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

स्थल परिवहन

रेल परिवहन तंत्र के मुख्य लक्षण

देश के आन्तरिक परिवहन का आधार भारतीय रेल तंत्र है। यहाँ एशिया में सबसे बड़ा

एवं संसार में चौथा सब से बड़ा रेल-जाल पाया जाता है। यहाँ कुल रेल मार्ग की लम्बाई 61,850 किलोमीटर है जिस पर 7,105 स्टेशनों को छूती हुई 12,670 रेलगाड़ियाँ प्रतिदिन चलती हैं। भारतीय रेल मार्ग तीन प्रकार के गेजों में बनाये गये हैं, बड़ी लाइन (इसमें दोनों पटरियों की आपसी दूरी 1.675 मीटर होती है), मीटर गेज अथवा छोटी लाइन, जिसमें पटरियों की आपसी दूरी 1 मीटर होती है तथा संकरे गेज की लाइनें, जिनमें यह दूरी 0.762 तथा 0.610 मीटर होती है। रेल गाड़ियों में कर्षण के लिए काम में आने वाले इंजन भाप, डीज़ल तथा बिजली से चलाए जाते हैं। धीरे-धीरे डीज़ल तथा बिजली से चलाए जाने वाले इंजनों की संख्या बढ़ाई जा रही है।

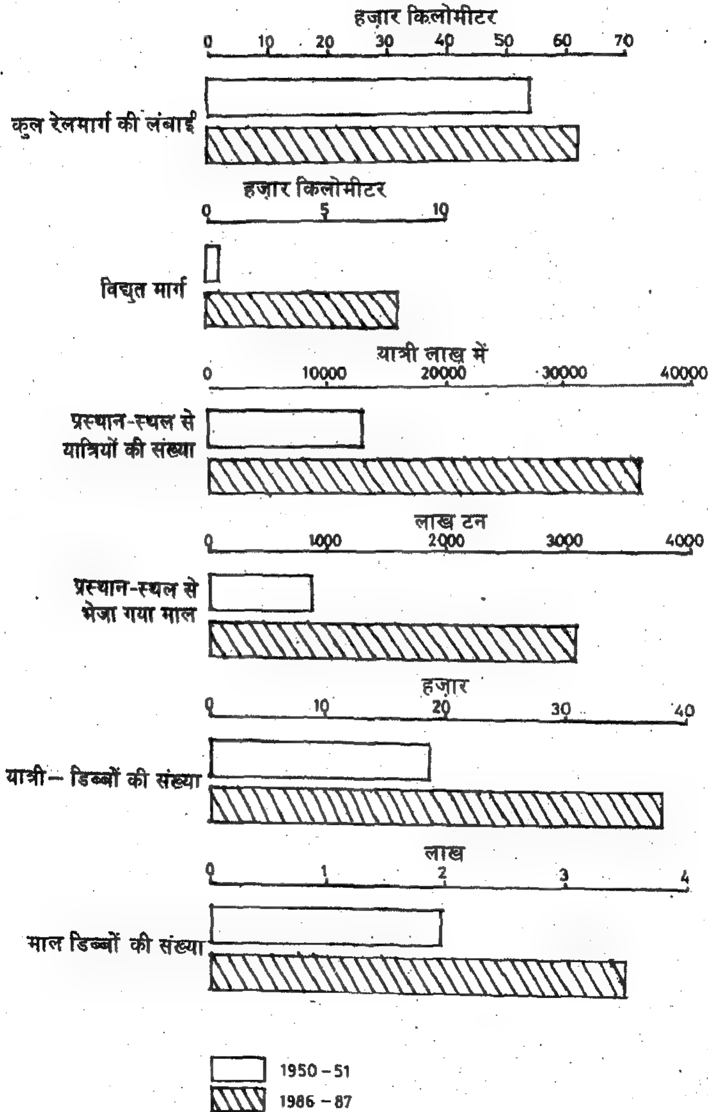


चित्र 4.1 रेल इंजनों की वृद्धि

भारत में रेल-जाल के प्रारूप को राजनैतिक, आर्थिक तथा भौगोलिक कारकों ने प्रभावित किया है। स्वतंत्रता से पहले रेल-जाल का प्रारूप ब्रिटिश प्रशासन की उन नीतियों से प्रभावित हुआ था जिनका मुख्य उद्देश्य प्रशासन के शिकंजों को फैलाना तथा उसे मज़बूत करना था। संसाधनों के दोहन की साम्राज्यवादी नीति ही उत्पादन एवं संग्रहण के क्षेत्रीय केन्द्रों एवं पत्तन-नगरों को जोड़ने के लिए रेल-मार्गों के प्रादुर्भाव के लिए उत्तरदायी थी। संसाधनों के शोषण की व्यवस्था इस प्रकार की गई थी कि छोटे छोटे गांवों से भी अधिशेष उत्पादन छोटे नगरों तथा उप-क्षेत्रीय केन्द्रों तक ले आया जाता था। यहाँ से उन्हें बड़े नगरों तक पहुँचाया जाता था जो बन्दरगाहों से जुड़े हुए थे। इस प्रकार सम्पूर्ण पृष्ठ-प्रदेश बन्दरगाहों से जोड़ दिया गया था। रेल-जालों की समरूपता को अन्य विदेशी शक्तियों जैसे फ्रांस एवं पुर्तगाल द्वारा प्रशासित भूखण्डों की मौजूदगी ने भी प्रभावित किया है। इस के साथ कुछ देशी रियासतें अपने परिवहन तंत्र की व्यवस्था स्वयं करती थीं। इन कारणों से एक समन्वित एवं एकीकृत परिवहन जाल के विकास में बाधा पड़ी है।

कलकत्ता के पृष्ठ—प्रदेश में बड़े क्षेत्रीय केन्द्रों को रेल-मार्गों द्वारा जोड़ने की ब्रिटिश प्रशासन की नीति से पूर्वी भारत के बहुत से महत्त्वपूर्ण व्यापरिक केन्द्रों का ह्रास हुआ है। कुछ छोटे एवं अनजान केन्द्र इसलिए महत्त्वपूर्ण बन गये कि वे रेलवे जंक्शन के रूप में विकसित हो गये, उदाहरण के लिए मुगलसराय, टूंडला तथा इटारसी। पूर्वी भारत में नौका वाहन-योग्य नदियों द्वारा परिवहन को भी धक्का पहुँचा है तथा नदी-मार्गों के साथ-साथ स्थित बहुत से व्यापार केन्द्रों तथा घाट-नगरों का भी ह्रास हुआ है।

राजनैतिक एवं प्रशासनिक कारकों के अतिरिक्त भौगोलिक कारकों ने भी रेल-जाल को प्रभावित किया है। भारत के उत्तरी मैदान की समतल भूमि, जनसंख्या का अधिक घनत्व तथा समृद्ध कृषि, रेल-जाल के विकास के लिए बहुत ही उपयुक्त दशायें रही हैं। इस मैदान में बहुत संख्या में पाई जाने वाली नदियां ही रेलों के विकास में भौतिक बाधा थीं और इसीलिए बहुत से पुलों का निर्माण करना पड़ा जिस में अधिक धन का व्यय हुआ। नदियों की धाराओं में पानी के तीव्र प्रवाह के कारण भी पुलों के निर्माण में कठिनाई हुई। यही कारण है कि असम एवं बिहार की तीव्र प्रवाही नदियों के बाढ़-मैदानों में रेल की पटरियां नहीं बिछाई जा सकीं। भारत के मध्य भाग के पठारी क्षेत्र में भी पहाड़ी धरातल के कारण दो स्थानों के बीच रेल की सीधी पटरियां बिछाने में समस्या उत्पन्न हुई है। रेल की पटरियां निम्न पहाड़ियों, दो पहाड़ियों के बीच की निम्न भूमि अथवा सुरंगों के अन्दर से बिछाई गई हैं। यह काफी खर्चीला कार्य था। फलस्वरूप उत्तर की ओर हिमालय पर्वत श्रेणियों पर रेल मार्ग नहीं बनाए जा सके। रेल मार्गों को केवल पदस्थली पर स्थित कुछ नगरों तक ले जाकर छोड़ देना पड़ा जैसे जम्मू, (पहले रेल मार्ग केवल पठान कोट तक ही था) कोट द्वार, हरिद्वार तथा काठगोदाम आदि। संकरे गेज के रेल मार्गों द्वारा शिमला को कालका तथा सिलीगुड़ी को दार्जिलिंग से जोड़ा गया है। जम्मू से ऊधमपुर, जवाहर सुरंग तथा क़ाजी गुण्ड होकर कश्मीर घाटी में प्रवेश करने वाले रेल मार्ग का नियोजन भी किया जा सका है। इसी प्रकार राजस्थान के बलुवा मैदान पर रेल मार्ग बिछाना कठिन था। 1966



चित्र 4.2 भारत मे रेल—तंत्र (कुछ सूचक)

तक जोधपुर एवं जैसलमेर के मध्य कोई रेलमार्ग नहीं था। मध्य प्रदेश एवं उड़ीसा के घने जंगलों एवं पश्चिम बंगाल के दलदली भागों में भी रेल-जाल के विकास में समस्याएँ रही हैं। सहयाद्रि के पर्वतीय एवं वनाच्छादित क्षेत्रों में तथा तटीय मैदान में एक लगातार रेल मार्ग नहीं बनाया जा सका है। पश्चिमी तट तक रेल मार्ग पर्वतीय अन्तरालों में होकर ही कुछ स्थानों तक पहुँच सके हैं जैसे बम्बई, वास्कोडिगामा, मंगलोर तथा कोचीन रेल मार्ग शीर्षों के कुछ मुख्य उदाहरण हैं।

एटलस में भारत के रेल मार्ग-मानचित्र को देखने पर रेल-जाल की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

(i) भारत के उत्तरी मैदान में अमृतसर एवं हावड़ा के बीच रेल मार्गों का घना जाल विकसित हुआ है जिसमें मुगल सराय, लखनऊ, आगरा तथा पटना जैसे मुख्य रेल जंक्शन पाये जाते है। उत्तरी मैदान का सम्पूर्ण भाग रेल मार्गों से जुड़ा हुआ है। इस मैदान में पूर्व-पश्चिम की दिशा में संबद्धता अधिक पाई जाती है जबकि उत्तर—दक्षिण की दिशा में यह उतनी सक्षम नहीं है। उदाहरण के लिए दिल्ली से कलकत्ता के बीच की 1500 किलोमीटर की दूरी 17 घंटे में तय की जा सकती है। इसके विपरीत दिल्ली से देहरादून पहुँचने में 10 घंटे लगते हैं जबकि दिल्ली एवं देहरादून के बीच की दूरी कलकत्ता की अपेक्षा एक तिहाई भी नहीं है। इस मैदान में रेल-जाल का बहुत घनिष्ट सह-सम्बन्ध इस के कृषि एवं औद्योगिक विकास के स्तर से है। दिल्ली एक केन्द्र बिन्दु है जहाँ से रेल मार्ग प्रत्येक दिशा में विकीर्ण होते हैं। दिल्ली को सभी पत्तन नगरों से अति शीघ्र (सुपरफास्ट) रेल गाड़ियों द्वारा जोड़ा गया है।

(ii) कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जिन में रेल-जाल विरल है। इन क्षेत्रों में मुख्य हिमालय का पर्वतीय क्षेत्र है। कटा-फटा भूभाग, पर्वतों एवं उपत्यकाओं का धरातल, पिछड़ी अर्थव्यवस्था एवं विरल जनसंख्या आदि कुछ ऐसे कारक हैं जो रेल-जाल के विरल होने के लिए उत्तरदायी हैं। दूसरा ऐसा क्षेत्र पश्चिमी राजस्थान है जिस के शुष्क प्रदेश में केवल एक दो मीटर गेज के रेलमार्ग प्रविष्ट हो सके हैं। ब्रह्मपुत्र घाटी में दो समान्तर रेल मार्ग हैं परन्तु मेघालय पठार पर कोई रेल मार्ग नहीं बनाया जा सका है। त्रिपुरा, मणिपुर, मिजोरम एवं नागालैण्ड में भी कोई रेल मार्ग नहीं है। पर्वतीय धरातल एवं घने वनों से आच्छादित भूमि ही रेलमार्गों के न होने के लिए उत्तरदायी है। इन क्षेत्रों में रेल मार्ग बनाने में बहुत बड़ी लागत आयेगी। विरल जनसंख्या होने के कारण भी रेलमार्ग बनाने के कार्य को प्रोत्साहन नहीं मिला।

(iii) प्रायद्वीपीय भाग, गुजरात तथा तमिलनाडु में अन्य भागों की तुलना में मध्यम सघन रेल-जाल पाया जाता है। सम्पूर्ण प्रायद्वीपीय मैदान एक पहाड़ी

भूभाग है। जनसंख्या का संकेन्द्रण भी मध्यम है। अतः रेल-जाल भी मध्यम सघन है। मुख्य रेल मार्गों को इस प्रकार बिछाया गया है कि बम्बई-मद्रास, मद्रास-कोचीन, मद्रास-दिल्ली तथा मद्रास-हैदराबाद के मध्य अधिक सक्षम रेल सेवा उपलब्ध है।

(iv) पूर्वी तटीय प्रदेशों एवं पश्चिमी तटीय प्रदेशों के रेल-जाल में स्पष्ट भिन्नता देखने को मिलती है। पूर्वी तट के साथ-साथ कलकत्ता एवं मद्रास के बीच एक मुख्य रेलमार्ग बनाया गया है जबकि पश्चिमी तटीय मैदान में बम्बई एवं कोचीन के मध्य कोई सीधा रेलमार्ग नहीं है। पश्चिमी तटीय मैदान में घाट की पहाड़ियां तट के बहुत निकट हैं अतः तटीय मैदान संकरा है तथा समुद्र तट की ओर बढ़ी हुई पहाड़ियाँ रेलमार्ग में अवरोध पैदा करती हैं। इसके विपरीत पूर्वी तटीय मैदान अधिक चौड़ा है एवं पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ तट से दूर स्थित हैं।

सुचारू प्रबन्ध एवं विकास के दृष्टिकोण से भारतीय रेल-तंत्र को 9 क्षेत्रों में बाँटा गया है। ये क्षेत्र एवं इन में पड़ने वाले रेल मार्गों की लम्बाई को सारणी 4.1 में प्रस्तुत किया गया है।

सारणी 4.1 का अध्ययन कीजिए तथा बताइए कि कौन सा क्षेत्र सबसे बड़ा और कौन सा क्षेत्र सबसे छोटे रेल मार्ग का प्रबन्ध करता है? वे कौन से दो नगर हैं जहाँ दो क्षेत्रों के

सारणी 4.1

रेल मार्गों के क्षेत्र

क्र. स.	क्षेत्र	मुख्यालय	रेलमार्गों की कुल लम्बाई (किलोमीटर में)
1.	उत्तर	नई-दिल्ली	10,977
2.	मध्य	बम्बई वी.टी.	6,486
3.	पूर्व	कलकत्ता	4,281
4.	पश्चिम	बम्बई (चर्च गेट)	10,211
5.	उत्तर-पूर्वी	गोरखपुर	5,163
6.	उत्तर-पूर्व सीमान्त	माले गांव, गुवाहाटी	3,763
7.	दक्षिण	मद्रास	6,711
8.	दक्षिण-मध्य	सिकन्दराबाद	7,134
9.	दक्षिण-पूर्व	कलकत्ता	7,085

मुख्यालय स्थित हैं?

भारतीय रेल लोगों एवं माल को ढो कर देश की अर्थव्यवस्था में योगदान देती है। निम्नलिखित सारणी से रेल तंत्र द्वारा प्रदत्त सेवाओं के महत्व की झलक मिलती है।

सारणी 4.2

रेल द्वारा ढोई जाने वाली मुख्य वस्तुएँ (दस लाख टनों में)

वस्तुएँ	1950-51	1970-71	1980-81	1987-88
कोयला	30.9	65.0	64.0	119.84
खाद्यान्न	7.8	15.5	18.33	30.13
सीमेन्ट	2.4	11.2	9.64	13.04
उर्वरक	0.6	5.2	8.11	13.18
खनिज तेल	2.7	10.1	14.95	21.69

इस सारणी से केवल यही नहीं पता चलता कि

भारतीय रेल तंत्र कितना सामान ढोता है बल्कि इस बात का भी पता चलता है कि देश का आर्थिक विकास किस स्तर तक हुआ है।1950-51 की अपेक्षा 1987-88 में रेल द्वारा ढोये जाने वाले खाद्यान्न की मात्रा लगभग चार गुना बढ़ गई है। यह इस बात का द्योतक है कि देश में खाद्यान्न के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इसी प्रकार रेल द्वारा ढोये जाने वाले उर्वरक की मात्रा में भी बहुत बड़ी वृद्धि हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि कृषि में उर्वरकों का उपयोग बढ़ा है जिससे कृषि-विकास को एक दृढ़ - आधार मिला है। रेलों, द्वारा कोयला सिर्फ उसके अपने उपयोग के लिए नहीं बल्कि बड़ी मात्रा में ताप बिजली घरों के लिए भी लाया जाता है। इन तापघरों में उत्पन्न की गई बिजली, देश के औद्योगिक विकास के लिए काम में लाई जाती है। 1950-51 से अब तक रेल द्वारा ढोये जाने वाली तेल की मात्रा की वृद्धि को ध्यानपूर्वक देखें ।

हमने इस बात का उल्लेख पहले ही किया है कि भारतीय रेल की पटरियों के तीन गेज हैं। यात्रियों एवं माल के सुचारू परिवहन में यह बाधक है। एक गेज की रेल पटरी से दूसरी गेज की पटरी पर स्थानान्तरण करने में बार-बार उतारने एवं लादने की क्रिया में समय लगता है तथा यह महंगा होता है। जल्दी नष्ट होने वाली वस्तुएं इस देरी के कारण खराब हो जाती हैं। यात्रियों की संख्या तथा ढोये जाने वाले माल की मात्रा में दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। वर्तमान रेल पटरियां अधिक भार सहन नहीं कर सकतीं। मार्ग में आने वाले पुल बहुत दिन पहले के बने हुये हैं और उन का जीवन काल लगभग समाप्त हो गया है। उन की मरम्मत तथा देखभाल अत्यधिक आवश्यक है जिस से दुर्घटनाओं से बचा जा सके। बहुत से नगरों में स्थान की कमी एवं भीड़भाड़ के कारण भूमिगत रेल (मेट्रो) का निर्माण किया गया है। कलकत्ता में लगभग 10 किलोमीटर की दूरी तक भूमिगत रेल चलाई जा रही है। निकट भविष्य में अन्य महानगरों में भी भूमिगत रेल का निर्माण एक आवश्यकता बन जायेगी।

सड़क परिवहन

मध्य तथा छोटी दूरियों के लिए माल तथा यात्रियों के ढोने में सड़क परिवहन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सड़क परिवहन एक पूरक तंत्र प्रदान कर, पूर्ण परिवहन तंत्र की क्षमता को बढ़ा देता है। इस से फार्म एवं खेतों को फैक्टरियों से जोड़ना सम्भव हो जाता है। यही नहीं इस की सेवाएं ग्राहक के दरवाजे पर उपलब्ध होती हैं। लोच, विश्वसनीयता एवं गति सड़क परिवहन की मुख्य विशेषतायें हैं। यात्रियों के सवारी के रूप में सड़क पर चलने वाले वाहन लोचदार होते हैं क्योंकि वे कहीं पर सवारी को उतार या चढ़ा सकते हैं जबकि रेलगाड़ी पर केवल स्टेशन से ही बैठा या उतरा जा सकता है। इन्हीं गुणों के कारण सड़क परिवहन द्वारा ढोये जाने वाले माल एवं यात्रियों का अनुपात बढ़ता जा रहा है। 1950-51 में बसों की संख्या 34,000 से बढ़ कर 1984-85 में 2,06,000 हो गई है। अतः इस में 5.4 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर अंकित की गई है, जबकि इसी काल में ट्रकों की संख्या 82,000 से बढ़कर 7,63,000 हो गई तथा इसमें 6.8 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर अंकित की गई है। कुल बस सेवाओं में लगभग 40 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत है जिनके प्रबन्ध एवं चलाने की

जिम्मेदारी राज्य सरकारों के परिवहन निगमों की है। इसके विपरीत ट्रक परिवहन पूर्ण रूप से निजी क्षेत्र के अधीन है। लगभग 60 प्रतिशत यात्री सेवाऐं भी निजी क्षेत्र के अधीन हैं।

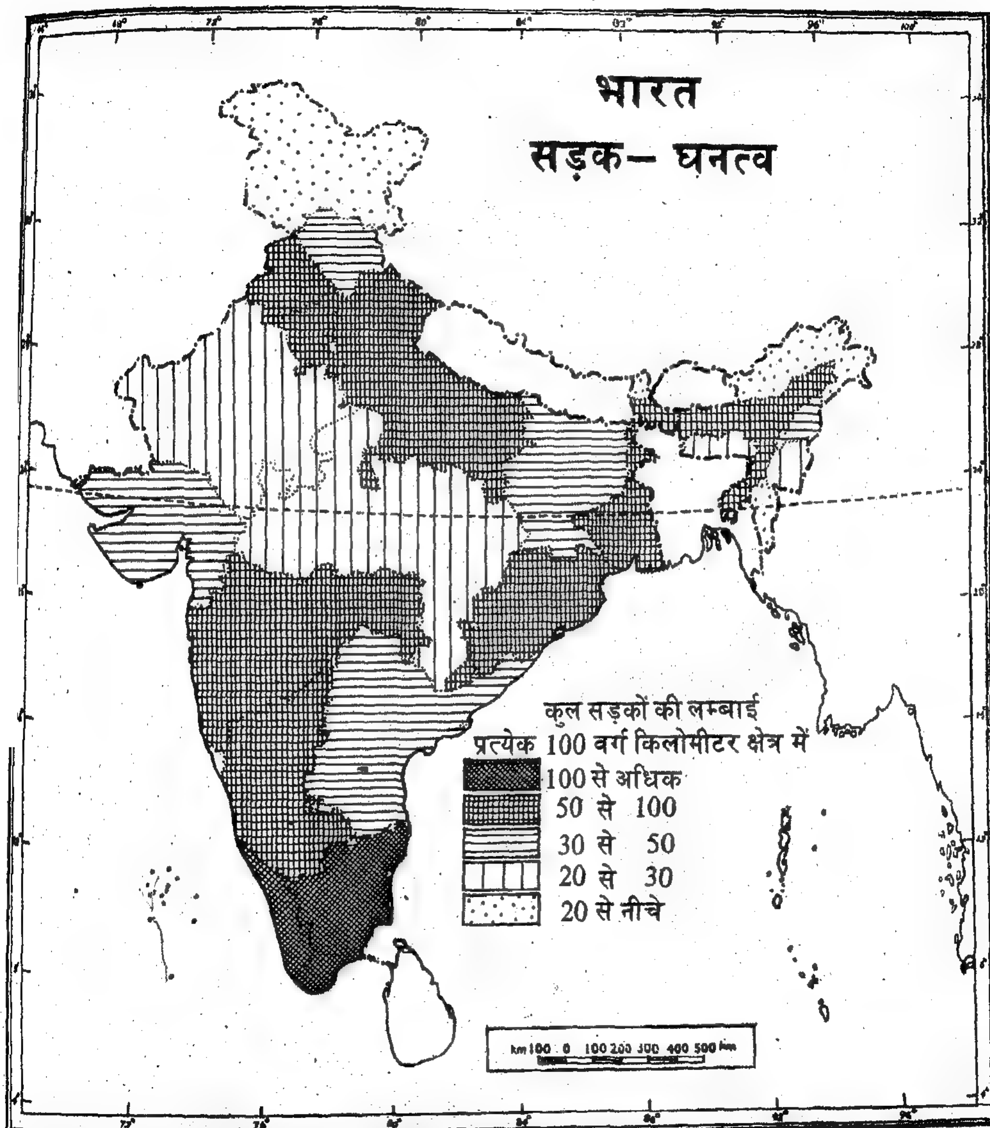
सड़कों पर बढ़ते हुए यातायात द्वारा उत्पन्न दबाव को केवल वाहनों की संख्या बढ़ा देने से कम नहीं किया जा सकता। इसके लिए सड़क जाल के विस्तार एवं सुधार की आवश्यकता है। भारत का सड़क जाल संसार के बड़े सड़क जालों में से एक है। भारत में 1950-51 में कुल सड़कों की लम्बाई 397.62 हजार किलोमीटर थी, जो 1985-86 में बढ़कर 1772.8 हजार किलोमीटर हो गई। इसी अवधि में पक्की सड़कें (1950-51 में) 156.11 हजार किलोमीटर से बढ़कर (1984-85 में) 833.0 हजार किलोमीटर हो गई जबकि कच्ची सड़कों की लम्बाई 1950-51 में 241.5 हजार किलोमीटर से बढ़कर 1984-85 में 940.0 हजार किलोमीटर हो गई।

रेलों के विकास के संदर्भ में हमने देखा है कि रेलमार्गों का विकास तट से आंतरिक भागों की ओर हुआ है, क्योंकि बंदरगाहों से उनके पृष्ठ प्रदेश को जोड़ना था। भारत में सड़कों का विकास आंतरिक प्रदेश में स्थित महत्त्वपूर्ण केन्द्रों को आपस में जोड़ने के लिए किया गया और धीरे-धीरे तटीय क्षेत्रों तक इसका विस्तार हुआ। दिल्ली-आगरा, दिल्ली-अहमदाबाद, इलाहाबाद-वाराणसी तथा दिल्ली-लाहौर बहुत पहले ही सड़कों द्वारा जोड़े जा चुके थे। सल्तनत एवं मुगल काल में बहुत सी सड़कें बनाई गई थीं और आज के अधिकांश मुख्य सड़क-मार्ग प्राचीन मुग़ल सड़क मार्गों पर ही बनाये गये है। ये सड़क-मार्ग समाज को सुसंगठित एवं मजबूत बनाने के लिए आवश्यक थे।

वे मुख्य सड़क मार्ग जिनका निर्माण एवं रख-रखाव **केंद्रीय लोक निर्माण विभाग** (सी. पी. डब्ल्यू. डी.) द्वारा किया जाता है उन्हें **राष्ट्रीय महामार्गों** की संज्ञा दी गई है। 1950-51 में राष्ट्रीय महामार्गों की कुल लम्बाई 19,700 किलोमीटर थी जो 1987-88 में बढ़कर 33,612 किलोमीटर हो गई है। राज्य सरकारें तथा केन्द्र शासित प्रदेश भी सड़क निर्माण एवं रख-रखाव का कार्य करते हैं। प्रत्येक ज़िले का मुख्यालय राज्य की राजधानी से सड़क द्वारा जुड़ा होता है। ये सड़क मार्ग **राज्य-महामार्ग** कहलाते हैं। ग्रामीण सड़कें एक गाँव को दूसरे से जोड़ती हैं। ये प्रायः धूल से भरे मार्ग होते हैं। कुछ ग्रामीण सड़कों पर ईंट का खड़ंजा भी बिछाया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अपने पदक्रम में सड़क का स्तर जितना ही नीचा होता है, वह उतनी ही घटिया सड़क होती है।

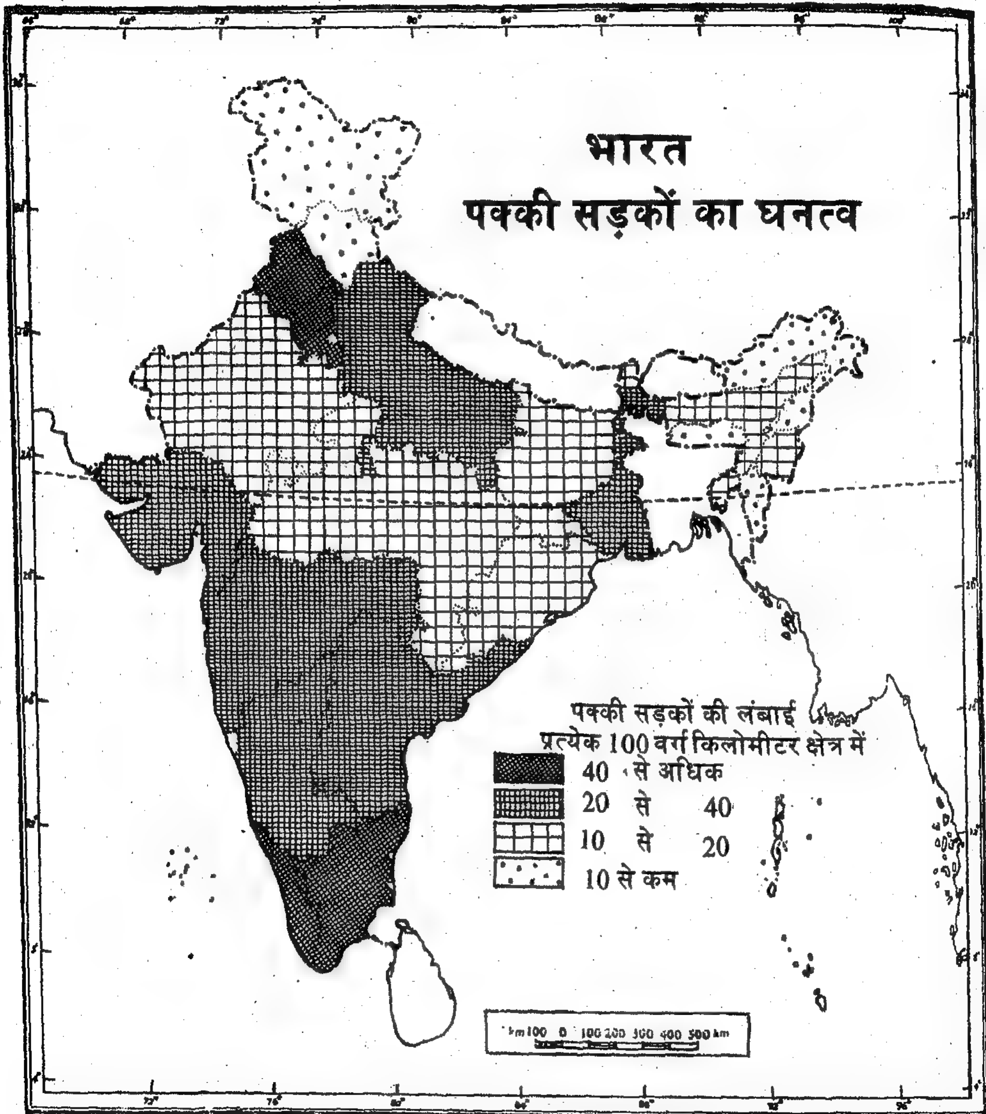
हमारे सीमान्त प्रदेशों के सामरिक महत्व को देखते हुये **सीमान्त सड़क संगठन** का गठन किया गया जिस को सीमान्त प्रदेशों एवं राज्यों में सड़कों के निर्माण एवं रख रखाव की जिम्मेदारी दी गई। इन सड़क मार्गों के बन जाने से इन क्षेत्रों में अभिगम्यता बढ़ने के कारण आर्थिक विकास तीव्रता से हुआ है और साथ ही साथ देश की सुरक्षा में भी इन का योगदान है।

सड़क-जाल के प्रारूप की एक झलक से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि गंगा के मैदान, पंजाब तथा हरियाणा में सड़क मार्ग का घनत्व अधिक है। प्रति 100 वर्ग किलोमीटर सड़क मार्ग की लम्बाई को **सड़क मार्ग का घनत्व** कहते हैं। दक्षिण में कर्नाटक पठार तथा तमिलनाडु में भी सड़क मार्ग का घनत्व अधिक है। दक्कन के पठार पर सड़क मार्ग घनत्व



Based upon Survey of India Outline Map printed in 1987.
The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.
The boundary of Meghalaya shown on this map is as interpreted from the North-Eastern Areas (Reorganisation) Act, 1971, but has yet to be verified.
Responsibility for correctness of internal details shown on the map rests with the publisher.

चित्र 4.3 भारत सड़क—घनत्व



Based upon Survey of India Outline Map printed in 1987.
The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.
The boundary of Meghalaya shown on this map is as interpreted from the North-Eastern Areas (Reorganisation) Act, 1971, but has yet to be verified.
Responsibility for correctness of internal details shown on the map rests with the publisher.

चित्र 4.4 भारत —पक्की सड़कों का घनत्व

मध्यम है। हिमालय, पश्चिमी राजस्थान तथा उत्तर-पूर्व के राज्यों में सड़क मार्ग घनत्व कम अथवा बहुत कम है। इन प्रदेशों में सीमान्त सड़क संगठन द्वारा बनाई गई सड़कों का जाल पाया जाता है।

भारत में सड़क मार्ग के प्रारूप पर इसकी भौतिक संरचना का प्रभाव अधिक पड़ा है। पर्वतीय एवं मरूस्थलीय क्षेत्रों में सड़क बनाना तथा उनका रख-रखाव अत्यधिक खर्चीला काम है। इसके साथ साथ, इनके आर्थिक विकास का निम्न स्तर भी सड़क मार्गों के विकास के अवरूद्ध करता है। चित्र 4.4 से स्पष्ट है कि पंजाब में पक्की सड़कों का घनत्व सर्वाधिक है (74.0 किलोमीटर प्रति 100 वर्ग किलोमीटर) जबकि सबसे कम घनत्व अरूणाचल प्रदेश में पाया जाता है (2.0 किलोमीटर प्रति 100 वर्ग किलोमीटर)। पंजाब के पश्चात् तमिलनाडु एवं हरियाणा में सड़क मार्गों का घनत्व अधिक है। असम, मणिपुर, हिमाचल प्रदेश, नागालैण्ड, मिजोरम, मेघालय, तथा जम्मू एवं कश्मीर में पक्की सड़कों का घनत्व 10 किलोमीटर प्रति 100 वर्ग किलोमीटर से कम है। स्पष्ट है कि इन राज्यों की भौतिक संरचना ही सड़क घनत्व का मुख्य निर्धारक कारक रहा है। केन्द्रशासित प्रदेशों में से चण्डीगढ़ में अधिकतम सड़क घनत्व पाया जाता है जो 123.4 किलोमीटर प्रति 100 वर्ग किलोमीटर है।

भारत में कई महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय महामार्ग उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम के विभिन्न स्थानों को जोड़ते हैं। शेरशाह सूरी मार्ग का ऐतिहासिक महत्व है। यह कलकत्ता को पेशावर से जोड़ता था। अब इसे राष्ट्रीय महामार्ग नं. 1 के नाम से जाना जाता है, जो दिल्ली को अमृतसर से जोड़ता है। इसका दूसरा भाग राष्ट्रीय महामार्ग नं. 2 है, जो दिल्ली को कलकत्ता से जोड़ता है। राष्ट्रीय महामार्ग नं. 3 आगरा को ग्वालियर, इन्दौर तथा नासिक होता हुआ बम्बई से जोड़ता है। राष्ट्रीय महामार्ग नं. 7 सबसे बड़ा राष्ट्रीय महामार्ग है जो वाराणसी को जबलपुर, नागपुर, हैदराबाद, बंगलौर तथा मदुरै होता हुआ कन्या कुमारी से जोड़ता है। इसकी लम्बाई 2,325 किलोमीटर है। राष्ट्रीय महामार्ग नं. 5 एवं 17 क्रमशः पूर्वी तथा पश्चिमी तट के साथ साथ हैं। राष्ट्रीय महामार्ग नं. 15 राजस्थान की मरूभूमि में सीमान्त सड़क है जो कान्धला, जैसलमेर, बीकानेर होता हुआ पंजाब के सीमान्त महामार्गों से मिल जाता है।

जल परिवहन

आन्तरिक जल मार्ग

जल-परिवहन एक सस्ता परिवहन का साधन है जो भारी सामान ढोने के लिए अधिक उपयुक्त है। भारत में बहुत सी नौकावाहन योग्य नदियाँ एवं जलाशय विद्यमान है परन्तु फिर भी देश के कुल परिवहन तंत्र में आन्तरिक जल मार्गों द्वारा किए गये परिवहन का अंश केवल एक प्रतिशत है। भारत की मुख्य नदियों में 5,200 किलोमीटर लम्बा जल मार्ग मशीनीकृत नौकाओं द्वारा नौका-वाहन के लिए उपलब्ध है परन्तु इसमें से केवल 1,700 किलोमीटर लम्बे जलमार्ग पर ही नौका—वाहन किया जाता है। भारत में 4,300 किलोमीटर लम्बी नहरों का जाल है जिसमें से 485 किलोमीटर पर मशीनीकृत नौकायें चलाई जा सकती हैं। परन्तु केवल 33.5 किलोमीटर नहर-मार्ग पर नावें चलाई जाती हैं। इससे स्पष्ट

है कि भारत में आन्तरिक जलमार्गों का पूर्णरूपेण उपयोग नहीं किया जाता। गंगा, ब्रह्मपुत्र तथा उनकी कुछ सहायक नदियां नौकावाहन योग्य हैं। गोदावरी, कृष्णा तथा महानदी का डेल्टाई भाग, नर्मदा एवं तापी की निचली घाटी, केरल में समुद्र का पृष्ठ जल-भाग तथा गोआ में माण्डवी एवं जुवारी नदियां भारत के कुछ महत्त्वपूर्ण आन्तरिक जल मार्ग हैं। आंध्रप्रदेश एवं तमिलनाडु में बकिंघम नहर एवं कम्बरजुआ नहरें महत्त्वपूर्ण नौकावाहन योग्य नहरें हैं।

आन्तरिक जल-मार्गों के विकास की नीति का निर्धारण केन्द्रीय आन्तरिक जल-परिवहन बोर्ड, नई दिल्ली द्वारा किया जाता है। राष्ट्रीय जलमार्गों का विकास, रख-रखाव एवं प्रबन्ध **आन्तरिक जलमार्ग प्राधिकरण** (आई. डब्लयू. ए. आई.) द्वारा किया जाता है। इस प्राधिकरण का गठन 1986 में किया गया था। राष्ट्रीय जल मार्ग (गंगा-भगीरथी-हुगली नदी तंत्र का इलाहाबाद-हल्दिया भाग) ऐक्ट, 1982 के अनुसार इस जलमार्ग के विकास का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर है। कलकत्ता असम, कलकत्ता-फरक्का तथा कलकत्ता एवं कछार के बीच नदियों द्वारा माल ढोने की सेवाओं का संचालन केन्द्रीय आन्तरिक जलमार्ग परिवहन निगम करता है। यह निगम केन्द्रीय सरकार का एक संस्थान है।

नदियों एवं नहरों की नाव्यता मुख्यतः जल के प्रवाह की निरंतरता तथा उस की गहराई पर निर्भर होती है जिसमें नौकायें चलाई जा सकें। मौसम के अनुसार पानी के स्तर में उतार-चढ़ाव, जल-प्रपातों की उपस्थिति, नदी तल में अवसादों का जमाव, सिंचाई के लिये नहरों में पानी प्रवाहित किए जाने के कारण नदी जल के स्तर ह्रास, विशेष रूप से तटीय नदियों एवं जलाशयों में लवणता का आधिक्य आदि आन्तरिक जलमार्गों की प्रमुख समस्याएं हैं।

पत्तन

भारत में 7,517 किलोमीटर लम्बी तटरेखा है जिसमें मुख्य भूभाग के अतिरिक्त लक्षद्वीप, अंडमान तथा निकोबार की तट रेखाएँ भी सम्मिलित हैं। चित्र संख्या 4.5-को देखकर भारत की तटरेखा के साथ पत्तनों एवं बन्दरगाहों की अवस्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। यह कहा जाता है कि जहाज़ द्वारा परिवहन में प्रकृति मार्ग प्रदान करता है तथा सरकारें अथवा कम्पनियां अन्तःस्थ बिन्दु (पत्तन) बनाती हैं। इस कथन से बन्दरगाह एवं पत्तन का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। बन्दरगाह समुद्र का वह अंशतः परिबद्ध क्षेत्र है जैसे, निवेशिका (क्रीक), एस्चुअरी अथवा समुद्र-अन्तर्गम (इनलेट) आदि, जो आने वाले जहाज़ों को आश्रय प्रदान करता है। पत्तन, गोदी (डॉक), घाट एवं सामान उतारने की सुविधाओं सहित तट पर एक ऐसा स्थान होता है जहाँ पर समुद्र मार्ग से आने वाले माल को उतारकर तथा स्थल मार्ग द्वारा आन्तरिक भागों को भेजा जाता है। साथ ही आन्तरिक भागों से आए माल को समुद्र मार्ग द्वारा विदेशों को भेजा जाता है। कटी फटी तट रेखा पर प्रायः बहुत अच्छे प्राकृतिक बन्दरगाह पाये जाते हैं। यदि कोई समुद्र-अन्तर्गम अथवा पृष्ठ जल की खाड़ी आन्तरिक प्रदेश में दूर तक प्रविष्ट हो जाती है तो स्थल की ओर भेजे जाने वाले माल को और अधिक दूरी तक सस्ती दरों पर ले जाया जा सकता है। कुछ स्थानों पर मानव-कृत बन्दरगाह तलमार्जन (ड्रेजन) के द्वारा अथवा तट

रेखा के साथ दीवार बना कर बना लिये जाते हैं। पत्तन के विकास का मुख्य आधार उस के पृष्ठ प्रदेश के आर्थिक विकास का स्तर होता है।

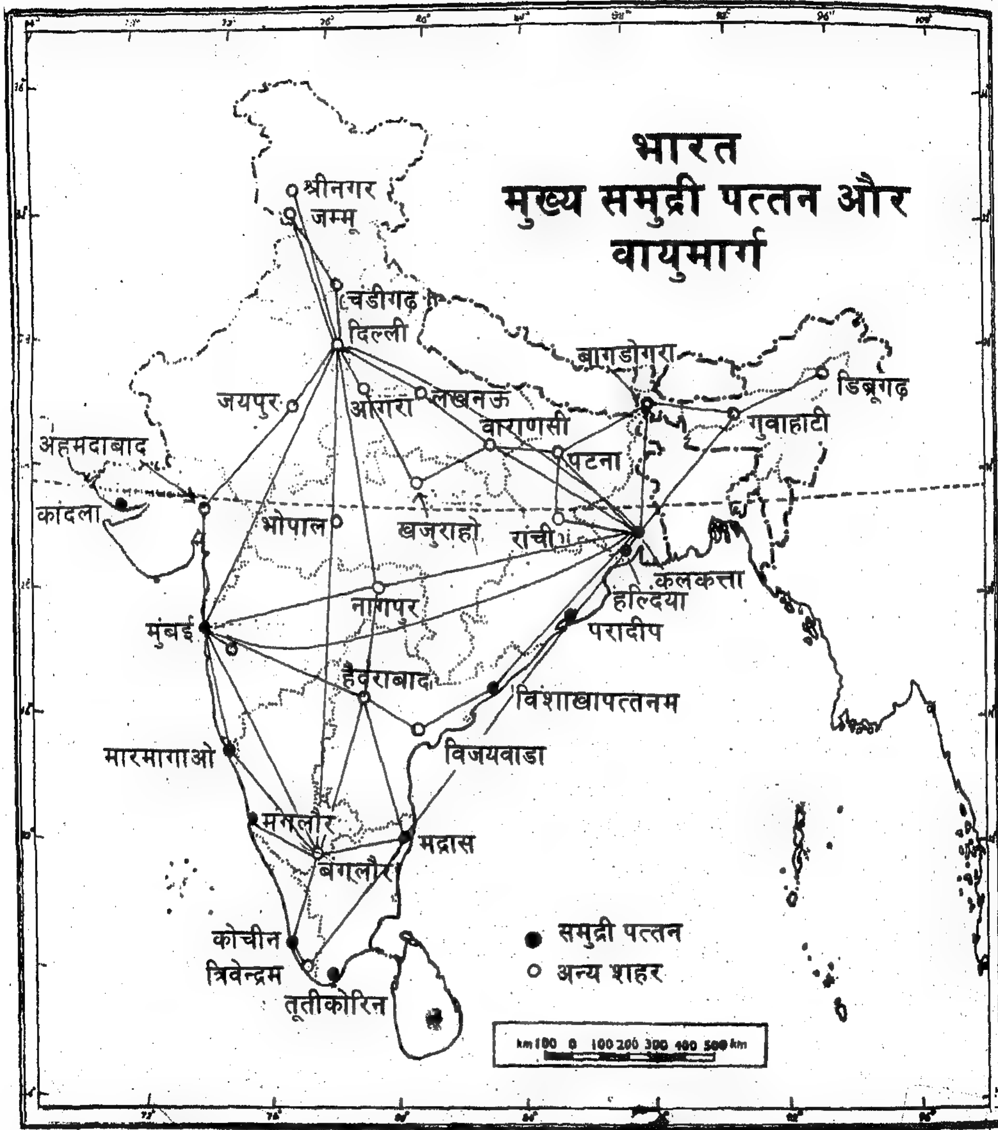
भारत में बम्बई एक प्राकृतिक बन्दरगाह तथा सबसे बड़ा पत्तन है। यहाँ से सभी पत्तनों द्वारा किए जाने वाले कुल यातायात के 20 प्रतिशत भाग का संचालन होता है। बम्बई से यातायात की जाने वाली वस्तुओं में पेट्रोलियम उत्पाद तथा शुष्क माल प्रमुख है। पत्तन के रूप में बम्बई का विकास ऐतिहासिक कारणों से हुआ है। ब्रिटिश साम्राज्य के निहित हितों द्वारा बम्बई के विकास को बल मिला है। 1869 में स्वेज नहर के बन जाने के बाद बम्बई पश्चिमी यूरोप के और निकट आ गया। बम्बई के अतिरिक्त कई अन्य पत्तन भारत की पश्चिमी तट रेखा के साथ विकसित हुए हैं।

कांधला एक ज्वारीय पत्तन है जो कच्छ के रन के पूर्वी किनारे पर स्थित है। यहाँ से यातायात की वस्तुओं में कच्चा तेल, पेट्रोलियम उत्पाद, उर्वरक, खाद्यान्न, नमक, कपास, सीमेन्ट, चीनी, खाद्य तेल तथा स्क्रैप प्रमुख हैं। कांधला में 232 लाख टन तक के यातायात की क्षमता है। कुल यातायात की दृष्टि से गोआ में स्थित मार्मगाओ का पाँचवाँ स्थान है। इस की कुल क्षमता 161 लाख टन माल के यातायात की है। बहुत दिनों तक इस पत्तन से लौह-अयस्क का व्यापार होता रहा है। कर्नाटक के कुद्रेमुख लोहे की खान से लौह अयस्क का निर्यात्-न्यू मंगलोर पत्तन से किया जाता है। मंगलोर से भी उर्वरक, पेट्रोलियम उत्पाद, खाद्य तेल, ग्रेनाइट पत्थर, शीरा (मोलेसेस) तथा सामान्य माल भेजा जाता है।

भारत के पश्चिमी तट पर कोचीन भी एक प्राकृतिक बन्दरगाह है। यह केरल में स्थित है। इस में एक आश्रययुक्त पृष्ठ-जल की खाड़ी है। यहाँ से पेट्रोलियम उत्पाद, उर्वरक तथा अन्य कच्चा माल भेजा जाता है। इसी पत्तन के द्वारा कोचीन तेल परिष्करणशाला के लिए कच्चा तेल आयात किया जाता है। बम्बई के निकट ही न्हावा-शेवा के पत्तन का विकास किया जा रहा है जो भारत का एक मशीनीकृत नवीन पत्तन होगा। इससे बम्बई पत्तन पर भीड़ एवं दबाव कम होगा।

भारत के पूर्वी तट पर तूतीकोरिन, मद्रास, विशाखापट्टनम, परादीप तथा कलकत्ता-हल्दिया आदि प्रमुख पत्तन स्थित हैं। तूतीकोरिन से कोयले, नमक, खाद्यान्न, खाद्य तेल, चीनी तथा पेट्रोलियम उत्पादों का यातायात किया जाता है। बम्बई तथा कलकत्ता की भांति मद्रास एक पुराना पत्तन है। सामान्य माल के अतिरिक्त यहाँ से पेट्रोलियम उत्पाद, उर्वरक तथा लौह अयस्क का यातायात होता है। इस पत्तन की क्षमता 2137 लाख टन माल के यातायात की है। अक्टूबर तथा नवम्बर के महीनों में मद्रास में चक्रवाती तूफान आते हैं जिस के कारण जहाज़रानी इस मौसम में अवरूद्ध हो जाती है। तट पर पानी की गहराई कम होने से इस पत्तन पर बड़े जहाज़ नहीं आ सकते।

विशाखापट्टनम् सब से गहरा एवं सुरक्षित पत्तन है जो भूभाग से घिरा हुआ है। लौह अयस्क के निर्यात के लिए बाहरी भाग में एक पोताश्रय बनाया गया है। पेट्रोलियम उत्पादों एवं कच्चे तेल के यातायात के लिए बहुत विशद प्रबन्ध किए गये हैं। यहाँ से उर्वरकों का आयात-निर्यात भी किया जाता है। इसकी कुल क्षमता 167 लाख टन माल के यातायात की है। यहाँ पर पोत निर्माण तथा मरम्मत का उद्योग भी स्थित है। परादीप उड़ीसा



चित्र 4.5 भारत- मुख्य समुद्र पत्तन और वायुमार्ग

के तट पर स्थित है और यहाँ से लौह अयस्क, कोयला तथा अन्य सामान्य माल का यातायात किया जाता है। कलकत्ता वास्तव में नदी पर स्थित पत्तन है। यह हुगली नदी के किनारे स्थित है जिसमें गाद जमा होने एवं ज्वार भित्तियों की समस्या है। कलकत्ता में जहाज़ों की भीड़ को कम करने के लिए यहाँ से लगभग 105 किलोमीटर दूर नदी की निचली घाटी में हल्दिया पर एक दूसरा पत्तन बनाया गया है। वहाँ एक तेल परिष्करणशाला भी हैं। यहाँ तक बड़े जहाज आ जा सकते है जो अन्यथा कलकत्ता तक जातें। कलकत्ता के पत्तन के रूप में विकसित होने के भी ऐतिहासिक कारण है। यह भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की राजधानी थी। इस का पृष्ठ-प्रदेश आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत समृद्ध रहा है। गंगा तथा ब्रह्मपुत्र की घाटियों में समृद्ध कृषि के अतिरिक्त छोटानागपुर की खनिज मेखला भी इस के पृष्ठ प्रदेश में ही स्थित है। हुगली नदी घाटी का औद्योगिक प्रदेश तथा बिहार-उड़ीसा-पश्चिमी बंगाल के औद्योगिक संकुल से ही कलकत्ता एक समृद्ध पत्तन बना रहा है अन्यथा इस में बहुत सी समस्याएं रही हैं।

भारत के ग्यारह प्रमुख बन्दरगाहों ने 1987-88 में कुल मिलाकर 1338 लाख टन माल का यातायात किया। 1986-87 की तुलना में यह यातायात 7.6 प्रतिशत अधिक था। पेट्रोलियम, तेल एवं स्नेहक पदार्थों, कोयला, वनस्पति तेल तथा कन्टेनरों में बन्द माल के यातायात में वृद्धि हुई है। 1986-87 की तुलना में 1987-88 में लौह-अयस्क, उर्वरक तथा उर्वरक बनाने के कच्चे माल के यातायात में कमी आई है। 1987-88 में, मार्मगाओ के अतिरिक्त अन्य सभी पत्तनों में माल के यातायात में वृद्धि हुई है। मार्मगाओ में 1986-87 की तुलना में माल यातायात लगभग 10.7 प्रतिशत कम हुआ है।

इन प्रमुख पत्तनों के अतिरिक्त, कुछ गौण पत्तन स्थानीय माल का यातायात करते हैं। महाराष्ट्र में रेडी तथा आंध्र प्रदेश में काकीनाडा गौण पत्तनों के उपयुक्त उदाहरण हैं। अंडमान, निकोबार, लक्षद्वीप तथा पांडिचेरी में भी पत्तनों के विकास के लिए कदम उठाये जा रहे हैं।

वायु परिवहन

वायु परिवहन सर्वाधिक तीव्र गति वाला परन्तु सबसे महंगा परिवहन का साधन है। भारत जैसे बड़े आकार के देश के लिए वायु परिवहन अत्यन्त उपयुक्त साधन है क्योंकि यहाँ भूमि एवं जलवायु में अत्यधिक विविधता पाई जाती है तथा यहाँ के औद्योगिक एवं वाणिज्यिक केन्द्र एक दूसरे से बहुत दूर दूर स्थित हैं। देश के आन्तरिक एवं विदेशी परिवहन में वायु परिवहन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। एक ओर पश्चिमी यूरोप एवं अफ्रीका तथा दूसरी ओर दक्षिणी-पूर्वी तथा पूर्वी एशिया के मध्य भारत की अवस्थिति केन्द्रीय है।

भारत में वायु परिवहन के दो खण्ड हैं। एयर-इण्डिया अन्य देशों से यातायात अर्थात् यात्री एवं माल दोनों के ही ढोने का काम करता है। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा मद्रास एयर-इण्डिया के केन्द्र बिन्दु हैं। इस की सेवायें सभी महाद्वीपों को जोड़ती हैं। 1987-88 में एयर-इण्डिया द्वारा 21.33 लाख यात्रियों ने यात्रा की।

देश के भीतर इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन वायु परिवहन का प्रबन्ध करता है। यह देश के भीतर विभिन्न गन्तव्य बिन्दुओं के

बीच यात्रियों, माल तथा डाक ढोने का कार्य करता है। इस के अतिरिक्त यह पड़ोस के आठ देशों में भी अपनी सेवाएँ उपलब्ध कराता है। देश के भीतर वायु परिवहन को बढ़ावा देने के लिए 1981 में **वायुदूत** एयर लाइन्स की सेवाओं का प्रारम्भ किया गया। वायुदूत की सेवायें दुर्गम क्षेत्रों में उपलब्ध कराई जाती हैं जहाँ इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन की सेवायें उपलब्ध नहीं हैं। 1985 में **पवन हंस लिमिटेड** की स्थापना दूरस्थ क्षेत्रों एवं वनाच्छादित और पहाड़ी क्षेत्रों के दुर्गम स्थानों को जोड़ने हेतु हेलीकॉप्टर सेवायें उपलब्ध कराने के लिए की गई।

पाइप लाइन

पेट्रोलियम, पेट्रोलियम उत्पादों तथा बड़ी मात्रा में गैस आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए पाइप लाइन बहुत सुगम परिवहन का साधन है। अब ठोस पदार्थों को भी कर्दम रूप में परिवर्तित कर के पाइप लाइनों से ले जाया जा सकता है। अन्य परिवहन माध्यमों की तुलना में पाइप लाइनों के कुछ विशेष गुण हैं। इसे कठिन एवं ऊबड़-खाबड़ भूभागों एवं पानी के भीतर बिछाया जा सकता है। इसके संचालन एवं रख-रखाव की लागत बहुत कम आती है। इसमें ऊर्जा का उपयोग भी बहुत कम किया जाता है। इस परिवहन साधन में लोच का न होना ही इस का सबसे बड़ा अवगुण है। एक बार बिछा दी जाने के बाद इसकी क्षमता में वृद्धि नहीं की जा सकती। पाइप लाइन की सुरक्षा करना भी कठिन काम है। भूमिगत पाइप लाइन की मरम्मत में कठिनता होती है तथा साथ ही रिसाव का पता लगाना भी कठिन होता है।

भारत में कच्चे तेल, पेट्रोलियम उत्पादों एवं गैस का परिवहन पाइप लाइन द्वारा किया जाता है। 1980 में यहाँ 5,035 किलोमीटर लम्बी पाइप लाइनों का जाल था जो 1985 में बढ़ कर 6,535 किलोमीटर हो गया। दो क्षेत्रों में ठोस पदार्थों को कर्दम के रूप में पाइप लाइन द्वारा ले जाया जाता है : कुद्रेमुख खान से लौह अयस्क मंगलोर पत्तन तक तथा उदयपुर जिले में मटन की खानों से देबारी प्रगालक फैक्टरी तक रॉक फॉस्फेट सान्द्र को पाइप लाइन द्वारा लाया जाता है।

कांधला पत्तन से कोयाली तथा मथुरा की परिष्करणशालाओं तक कच्चा तेल पाइप लाइन से पहुँचाया जाता है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध पाइप लाइन पश्चिमी पट पर स्थित हजीरा से सुलतानपुर जिले के जगदीशपुर नामक स्थान तक बिछाई गई है। इसे ही एच. बी. जे (हजीरा-विजयपुर-जगदीशपुर) पाइप लाइन के नाम से जाना जाता है। यह 1,700 किलोमीटर लम्बी पाइप लाइन है जिससे गैस कई उर्वरक कारखानों जैसे सवाई माधोपुर (राजस्थान), औरैय्या (इटावा, उत्तर प्रदेश), आंवला (बरेली, उत्तर प्रदेश) तथा शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश) पहुँचाई जाती है।

बम्बई-गुजरात क्षेत्र में बिछाई गई पाइप लाइनों के अतिरिक्त असम के तेल क्षेत्रों, गुवाहाटी, बरौनी तथा कानपुर में भी पाइप लाइनें बिछाई गई हैं। हल्दिया पत्तन की तेल परिष्करणशाला को बरौनी तेल परिष्करणशाला से पाइप लाइन द्वारा जोड़ा गया है। इस बात पर विचार किया जा रहा है कि क्या कोयले को कर्दम रूप में ताप बिजली घरों तक पाइप लाइनों द्वारा भेजा जा सकता है ?

परिवहन तंत्र का एकीकरण में योगदान

भारत जैसे बड़े देश में, जो अपने आकार एवं विविधता के लिए प्रसिद्ध है, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक एकीकरण को मजबूत बनाने में परिवहन तंत्र की विशेष भूमिका है। एक एकीकृत एवं समन्वित परिवहन तंत्र सामाजिक दूरियों, राजनैतिक विखंडन एवं आर्थिक विलगन को कम करता है। इससे समाज, राजनीति एवं अर्थव्यवस्था में उत्पन्न होने वाली अभिकेन्द्री शक्तियों को प्रोत्साहित तथा अपकेन्द्री शक्तियों को कम करने में सहायता मिलती है। भारत में रेल तथा सड़क परिवहन सब से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जन साधारण इसी का इस्तेमाल करते हैं। किसी भी अन्य प्रौद्योगिकी की भांति, परिवहन के साधन भी समाज के सभी वर्गों के सदस्यों को एक समान नहीं उपलब्ध हैं। राष्ट्रीय महामार्ग एवं रेलमार्ग सामाजिक नियंत्रण में हैं तथा केन्द्रीय सरकार इन्हें बनाने तथा इनका रख-रखाव करने के लिए उत्तरदायी है। देश की अर्थव्यवस्था की आधारभूत धमनियों के रूप में ये दूरस्थ क्षेत्रों को जोड़ने में बहुत सक्षम हैं।

यात्रियों एवं माल को ढोने के अतिरिक्त रेल एवं सड़क मार्ग, उत्पादन (कृषि एवं उद्योग) बिन्दुओं को उपभोग (बाज़ार) बिन्दुओं से जोड़ने का काम करते हैं। कच्चे माल को औद्योगिक केन्द्रों तक पहुँचाया जाता है। कृषि में काम आने वाले साधनों को गांवों तक ले जाया जाता है। किसी भी नैसर्गिक विपत्ति के समय इन परिवहन साधनों का उपयोग राहत कार्यों के लिए किया जाता है। जिस समय भारत में रेल एवं सड़क मार्गों का विकास नहीं हो पाया था, देश के किसी न किसी भाग में अकाल की स्थिति बनी रहती थी। अब इन नैसर्गिक विपत्तियों के आने पर पहले जितनी, क्षति नहीं पहुँचती। इसीलिए आज भारत के किसी भाग से अकाल का समाचार नहीं मिलता है यद्यपि अभी भी सूखा कहीं न कहीं अवश्य पड़ता रहता है।

हमारे परिवहन तंत्र के विकास में 1947 का वही महत्व है जो 1853 का है जबकि पहला रेलमार्ग बनाया गया। 1947 में भारत के विभाजन के कारण वह परिवहन तंत्र जो पिछले लगभग सौ वर्षों में विकसित किया गया था छिन्न-भिन्न तथा विखंडित हो गया। जम्मू एवं कश्मीर का बहुत बड़ा क्षेत्र देश के मुख्य भूभाग से केवल एक संकरी पट्टी द्वारा जुड़ा हुआ है। यही स्थिति उत्तरी-पूर्वी राज्यों की है जो मुख्य भूभाग से एक संकरी भू-पट्टी से जुड़ा हुआ है। पंजाब, राजस्थान एवं पश्चिमी बंगाल में बहुत से केन्द्र जो कभी 'नोड' थे वे अन्तःस्थ नगर बन कर अपने महत्व खो बैठे।

परिवहन तंत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य देश की अर्थव्यस्था को एकीकृत करना है। हमारे देश में उत्पादन का विशिष्टीकरण स्थानीय स्तर पर हुआ है। इन विशिष्ट उत्पादों के स्थानीय बाज़ार हैं जहाँ उनकी खपत होती है। उत्पादन एवं उपभोग में विशिष्टीकरण स्थानीय वस्त्रों, खाद्य पदार्थों एवं हस्तशिल्प कलाओं में परिलक्षित होता है। परिवहन जाल इन स्थानीय बाज़ारों को राष्ट्रीय बाज़ार से और राष्ट्रीय बाज़ार को अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार से जोड़ता है। सड़क, रेल मार्ग, वायुमार्ग, आन्तरिक जल मार्ग तथा जलपोत सभी व्यापार को बढ़ाने के लिए आपस में जुड़े हुए हैं। बन्दरगाह एवं विमान पत्तन देश के द्वार का काम करते हैं जिनसे होकर अधिशेष वस्तुओं का निर्यात एवं

देश की आवश्यकता की वस्तुओं का आयात किया जाता है। रेल, सड़क एवं आंतरिक जलमार्गों से बाहर से आये माल को आन्तरिक भागों तक एवं वहां से अधिशेष को बन्दरगाहों तक पहुँचाया जाता है। इस प्रकार दूरस्थ क्षेत्र भी राष्ट्रीय बाज़ार से एकीकृत हो जाता है। कृषि का वाणिज्यीकरण होता है और औद्योगिक उत्पादन का पैमाना बढ़ा दिया जाता है। नगरीय केन्द्रों का विकास होता है और प्रवास के द्वारा मानव एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँच जाता है। परिवहन जाल इस प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान करता है।

एक खण्ड के रूप में परिवहन बहुत से उद्योगों को जन्म तथा उनके विकास को प्रोत्साहन देता है जैसे लोह-इस्पात उद्योग, इंजन एवं कोच के कारखानों, मोटर गाड़ियाँ, ट्रक, बसें, जहाज़ एवं हवाई जहाज़ आदि बनाने के उद्योग। इस प्रकार परिवहन की आवश्यकताओं पर आधारित उद्योग इस के विकास के साथ एकीकृत हो जाते हैं।

वायु परिवहन से दूरस्थ स्थानों पर कम समय में पहुँचना सम्भव हो गया है। हम उन जगहों पर मिनटों एवं घण्टों पर पहुँच जाते हैं जहाँ हमारे पूर्वजों को पहुचने में वर्षों लग जाते। दूरियाँ सिकुड़ गई हैं और अब धरातलीय विस्तार का कोई अर्थ नहीं रहा है। परन्तु ये सुविधायें केवल कुछ लोगों को ही उपलब्ध हैं। हमें इस ओर प्रयास करना चाहिए कि परिवहन के ये साधन और अधिक सुदृढ़ हों ताकि लेह में रहने वाले कुछ लोग कन्याकुमारी के एवं राजस्थान के शुष्क मरूस्थल में रहने वाले कुछ लोग अपने को उत्तरी-पूर्वी राज्यों के लोगों के निकट महसूस करें।

यात्रियों के परिवहन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, सामान एवं सेवाओं का परिवहन। क्षेत्रीय विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, जो वास्तव में, राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का एक उप-भाग है। असम, दार्जिलिंग एवं नीलगिरि से चाय, कर्नाटक से कॉफी, कश्मीर एवं हिमाचल से सेब, केरल से मसाले तथा गुजरात से खाद्य तेल आदि विभिन्न उत्पादन तंत्रों के उत्पाद हैं, परन्तु राष्ट्रीय स्तर पर वे भारत के उत्पाद के रूप में देखे जाने चाहिए।

सन्तुलित प्रादेशिक विकास के लिए भी एकीकृत परिवहन तंत्र की आवश्यकता है। सड़क, रेल, जल मार्ग, वायु तथा सामुद्रिक परिवहन साधनों को पूरक सेवाएं उपलब्ध करानी चाहिए। परिवहन खण्ड के विकास में बड़ी मात्रा में पूंजी निवेश की आवश्यकता होती है। इसीलिए विभिन्न परिवहन साधनों की देख-रेख करने वाली एजेन्सियों को चाहिए कि इसका नियोजन एकीकृत रूप में करें। इस प्रकार परिवहन जाल पिछड़े क्षेत्रों में भी संसाधनों के उपयोग को बल देकर वृद्धि एवं विकास की स्थिति उत्पन्न करेगा।

अभ्यास

समीक्षा प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर लिखिए :
   (i) परिवहन राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का महत्त्पूर्ण खण्ड क्यों है?
   (ii) रेलों का विस्तार बन्दरगाहों से आन्तरिक क्षेत्रों की ओर क्यों किया गया था?
   (iii) सड़क परिवहन के कौन से गुण एवं अवगुण है?
   (iv) आश्रय युक्त पृष्ठ-जल की खाड़ी क्या है?

2. अंतर बतलाइए :-
   (i) बड़ी तथा छोटी रेल लाइन
   (ii) राष्ट्रीय महामार्ग तथा राज्य महामार्ग
   (iii) कोच तथा वैगन
   (iv) बन्दरगाह एवं पत्तन
   (v) किराया एवं माल भाड़ा

3. कारण बताइए :-
   (i) भारत के उत्तरी मैदान में परिवहन जाल सघन है।
   (ii) जलमार्गों द्वारा भारी वस्तुओं का परिवहन किया जाता है।
   (iii) पंजाब में सड़क मार्गों का घनत्व सर्वाधिक है।
   (iv) दिल्ली नगर रेल एवं सड़क मार्गों के एक केन्द्र बिन्दु के रूप में उभर गया है।

4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :-
   (i) भारत में परिवहन के साधन के रूप में पाइप लाइनों का विकास।
   (ii) गंगा एवं ब्रह्मपुत्र में आन्तरिक परिवहन।
   (iii) परिवहन साधनों का एकीकरण में योगदान।

5. भारत के रेल एवं सड़क मार्गों के मानचित्र को देखिए तथा बताइए कि ये दोनो आपस में पूरक हैं या प्रतिस्पर्द्धी।
6. अपने नगर या ग्राम की निकटतम मण्डी जाइए एवं ट्रक से उतरने वाले सामानों की एक सूची बनाइए और उन्हें विभिन्न उपयोगों के आधार पर वर्गीकृत कीजिए।

अध्याय 5

प्रादेशिक विकास

प्रदेश एवं प्रदेशीकरण

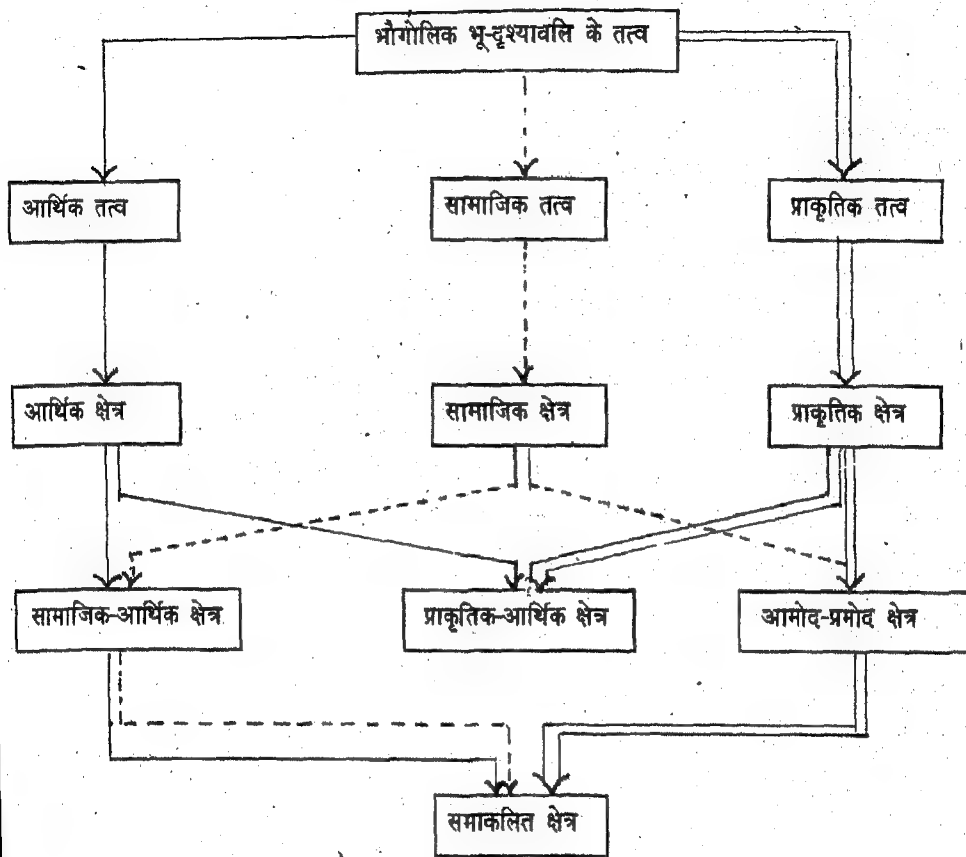
भूगोल दिक्स्थान का विज्ञान है जो किसी भूभाग में परिघटनाओं की विविधता के अध्ययन से सम्बद्ध है। वह दिक्स्थान जिसमें इन विविधताओं का अध्ययन किया जाता है उन्हें क्षेत्र (एरिया), मंडल (ज़ोन) और प्रदेश (रीजन) की संज्ञा दी गई है। सामान्यतः ये तीनों ही किसी भूभाग को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। जिस भूखण्ड विशेष में कोई विशिष्ट परिघटना पाई जाती है उसे क्षेत्र कहा जाता है। इसकी सीमा का निर्धारण अध्ययन की जाने वाली परिघटना के पाये जाने अथवा न पाये जाने पर निर्भर होता है। इस प्रकार, "किसी क्षेत्र की मुख्य विशेषता परिघटना की उपलब्धता है।" **मंडल**, अध्ययन किए जाने वाली परिघटना की तीव्रता अथवा सघनता को प्रदर्शित करता है। इसकी मुख्य विशेषता उस परिघटना का पाया जाना तथा उसकी तीव्रता (सघनता) है। उदाहरण के लिए जलवायु मंडल, सामुद्रिक मंडल अथवा रेलवे मंडल।

भौगोलिक अध्ययन में प्रदेश एक जटिल संकल्पना है।

प्रदेश की परिभाषा एवं इसकी रचना के आधार

प्रदेश भूमि का वह प्रत्यक्षीकृत भाग है जो किसी एक या एक से अधिक विशेषताओं के आधार पर अन्य भागों से भिन्न होता है। ये विशेषतायें विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं अतः प्रदेश भी कई प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए यदि प्रदेश को परिभाषित करने की विशेषता प्राकृतिक है (जैसे प्राकृतिक वनस्पति) तो परिभाषित प्रदेश **प्राकृतिक प्रदेश** कहा जायेगा (जैसे उष्ण कटिबन्धीय वर्षा के वन प्रदेश)। इसी प्रकार यदि परिभाषित करने की विशेषता सांस्कृतिक (जैसे भाषा) अथवा आर्थिक (जैसे औद्योगिक संकुल) हैं तो परिभाषित प्रदेश सांस्कृतिक (जैसे कन्नड़, तेलुगू, अथवा तमिल) अथवा आर्थिक (जैसे बम्बई का पृष्ठ-प्रदेश) कहा जायेगा।

किसी प्रदेश के निर्धारण का मुख्य आधार किसी भूभाग में भौगोलिक परिघटना में सापेक्ष एकरूपता अथवा समांगता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रदेश में प्रेक्षित परिघटना की समांगता उसे अन्य प्रदेशों से पृथक करती है। यह प्रेक्षित परिघटना भौतिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा अन्य विशेषता हो सकती है। वे सारे संस्पर्शी भूभाग जिनमें चुनी गई परिघटना में एकरूपता अथवा समांगता पाई जाती है, एक ही प्रदेश में सम्मिलित किये जाते हैं। संस्पर्शिता, इस प्रकार, किसी भी प्रदेश का एक



चित्र 5.1 प्रदेश के तत्व

महत्त्वपूर्ण गुण है। परन्तु प्रत्येक प्रकार के प्रदेशों के निर्धारण में यह एक आवश्यक दशा नहीं मानी जाती। कभी-कभी असंस्पर्शी भूभाग भी एक ही प्रदेश में सम्मिलित किए जाते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका एक राजनैतिक प्रदेश है परन्तु अलास्का तथा हवाई द्वीप उसके असंस्पर्शी इकाईयाँ हैं।

प्रदेशों को दो प्रकार से पहचाना जा सकता है। **सहज रूप से ही पहचाने जाने वाले** प्रदेश वे भूभाग होते हैं जिनको इनके बाहर रहने वाले लोक ज्ञान के आधार पर पहचानते हैं। उदाहरण के लिए मेवात, अवध मिथिला आदि इसी श्रेणी में रखे जाते हैं। इनकी सीमा रेखा बहुत स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं की जाती क्योंकि इनके निर्धारण का आधार इतिहास एवं संस्कृति की भागीदारी अथवा लोगों में अपनेपन की भावना है। **संस्थापित प्रदेश** मानव निर्मित होते हैं। अतः उनकी सीमायें सुस्पष्ट होती हैं। उदाहरण के लिए राज्य, जिले तथा अन्य प्रशासनिक भाग संस्थापित प्रदेश हैं। अतः उत्तर प्रदेश, राष्ट्रीय राजधानी प्रदेश तथा दामोदर घाटी निगम संस्थापित प्रदेश हैं। संस्थापित प्रदेशों को कुछ अन्य उप-भागों में बाँटा जा सकता है। जैसे औपचारिक (समरूप) प्रदेश अथवा प्रकार्यात्मक (नोडीय) प्रदेश। **औपचारिक प्रदेश** वे भौगोलिक प्रदेश हैं जिनमें चयन की गई भौगोलिक विशेषतायें, जैसे धरातल, जलवायु, मिट्टी अथवा प्राकृतिक वनस्पति आदि समरूप हों जैसा कि प्राकृतिक प्रदेशों में पाया जाता है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों में समानता के आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक प्रदेशों का निर्धारण किया जाता है जैसे भाषाई प्रदेशों का आधार भाषा तथा जनजातीय प्रदेशों का आधार नृजातीय समांगता है। यदि आर्थिक गुणों जैसे उत्पादन संरचना अथवा आय का स्तर आदि में समांगता पाई जाती है तो इन्हें आर्थिक प्रदेश कहा जाता है।

प्रकार्यात्मक प्रदेशों के निर्धारण का आधार संगठन, मनुष्यों, समान सेवाओं एवं संचार का आन्तरिक प्रवाह तथा एक नोड अथवा केन्द्र बिन्दु की उपस्थिति है। इस प्रकार प्रकार्यात्मक प्रदेश अन्तर्निर्भरता पर आधारित होता है। विषमांगी इकाईयाँ जैसे शहर, नगर तथा गांव आदि इसमें सम्मिलित किए जाते हैं जो आपस में प्रवाह के द्वारा एक अन्तर्निर्भरता तंत्र में जुड़े होते हैं। पत्तन तथा उसकी पृष्ठ भूमि तथा शहर एवं उसका 'अमलैण्ड' (परिनगर) प्रकार्यात्मक प्रदेश को प्रदर्शित करते हैं।

आर्थिक प्रदेश

पृथ्वी के विभिन्न भागों में मानव भिन्न-भिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाएं करता है। इस प्रक्रिया में दिक्स्थान का रूपान्तरण हुआ है। हम दिक्स्थान के किसी भाग को अपने वास्तविक एवं नैसर्गिक रूप में पाये जाने की कल्पना ही नहीं कर सकते। हमें केवल मानवकृत दिक्स्थान ही दिखाई पड़ता है। मानव के आर्थिक विकास के स्तर का मापदण्ड संसाधनों के रूपान्तरण एवं उपभोग करने की उसकी क्षमता है। प्रत्येक संसाधन दिक्स्थान से जुड़ा होता है। अतः संसाधनों के प्रकार एवं उसके उपयोग की समांगता के आधार पर आर्थिक प्रदेशों के निर्धारण की आवश्यकता पड़ी। आर्थिक प्रदेश राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का प्रतिनिधित्व करने वाला एक भूभाग होता है।

आर्थिक प्रदेश का आधार किसी भूभाग में उत्पादन तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं का संगठन, उनकी अवस्थिति एवं वितरण हैं। मानव की आर्थिक क्रियायें गतिशील होती हैं क्योंकि वे प्रौद्योगिकी में परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं। अतः आर्थिक प्रदेशों की रचना की प्रक्रिया भी गतिशील है और वे संसाधनों के विकास, उत्पादों की मांग तथा कौशल में सुधार के साथ-साथ बदलते रहते हैं। किसी प्रदेश के आर्थिक विकास का स्तर उसके प्राकृतिक संसाधनों तथा लोगों के सांस्कृतिक विकास पर निर्भर होता है जो मानव प्रकृति एवं संस्कृति की अन्तःक्रिया के रूप में परिलक्षित होता है।

सभी प्रदेशों में संसाधनों के विकास की दर समान नहीं होती। इस का मुख्य कारण उनके सांस्कृतिक विकास के स्तर में पाई जाने वाली विभिन्नता है, जो प्रौद्योगिकी के विकास के अन्तर के रूप में परिलक्षित होता है। किसी भी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कुछ प्रदेश आर्थिक दृष्टि से अधिक विकसित होते हैं और कुछ कम विकसित होते हैं। देश के आर्थिक विकास के नियोजन के लिए देश को विभिन्न आर्थिक प्रदेशों में बाँटना बहुत आवश्यक है।

नियोजन प्रदेश

नियोजन प्रदेश वह भू-भाग (दिक्स्थान) है जिसमें आर्थिक निर्णयों को कार्यान्वित किया जाता है। वर्तमान सन्दर्भ में नियोजन का अर्थ, आर्थिक विकास हेतु लिए गये आर्थिक निर्णयों एवं उनके कार्यान्वयन से है। नियोजन के उद्देश्य से चुने गये प्रदेश प्रशासनिक अथवा राजनैतिक हो सकते हैं जैसे राज्य, जिला अथवा विकास खण्ड। किसी भी प्रदेश का नियोजन उसमें उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर किया जाता है तथा ये आंकड़े सामान्यतः प्रशासनिक प्रदेशों के लिए एकत्र किये जाते हैं। अतः नियोजन प्रदेश वस्तुतः प्रशासनिक प्रदेश ही होते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय नियोजन के लिए सम्पूर्ण देश, राज्य नियोजन के लिए सम्पूर्ण राज्य तथा सूक्ष्म स्तर पर नियोजन के लिए जिला अथवा विकास खण्ड नियोजन प्रदेश होते हैं। नियोजन के उद्देश्यों को कार्यान्वित करके पूरा करने के लिए नियोजन प्रदेशों में धरातलीय एवं सामाजिक-सांस्कृतिक समांगता के साथ-साथ आर्थिक संरचना में समांगता होनी चाहिए। अतः नियोजन प्रदेशों के सीमा निर्धारण में समांगता, नोडीयता तथा प्रशासनिक सुविधा के बीच सन्तुलन लाना पड़ता है। नियोजन प्रदेश को इतना बड़ा होना चाहिए कि उसमें पर्याप्त संसाधन विद्यमान हो जो उसकी अर्थ-व्यवस्था के विकास को औचित्यपूर्ण बना सकें। इसमें आन्तरिक वैषम्य नहीं होना चाहिए। इसके संसाधन भण्डार इस प्रकार के होने चाहिए कि उपभोग एवं विनिमय के लिए उत्पादन का एक सन्तोषजनक स्तर प्राप्त किया जा सके। मानव एवं माल के प्रवाह को सुचारू रूप से नियंत्रित करने के लिए नियोजन प्रदेश में कुछ नोडीय बिन्दु होना आवश्यक है। भौगोलिक दृष्टिकोण से नियोजन प्रदेश संस्पर्शी इकाईयों से बना होना चाहिए।

भारत के नियोजन प्रदेश

आर्थिक प्रदेश आर्थिक नियोजन के लिए दृढ़ आधार है। आर्थिक प्रदेशों के निर्धारण के निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्त अपने महत्व के

पदक्रम के अनुसार दिये गये हैं:

(i) आर्थिक नियोजन के लिए आर्थिक प्रदेशों का निर्धारण उत्पादन-विशिष्टीकरण के आधार पर किया जाना चाहिए।

(ii) आर्थिक नियोजन के लिए प्राकृतिक प्रदेशों एवं उनमें उपलब्ध संसाधनों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

(iii) प्राकृतिक प्रदेशों एवं उप-प्रदेशों के ढांचे के भीतर ही आर्थिक नियोजन प्रदेशों के पदानुक्रम का अस्तित्व होता है। अतः आर्थिक प्रदेशीकरण के लिए सब से पहले देश को प्राकृतिक प्रदेशों में बाँटा जाना चाहिए।

(iv) आर्थिक नियोजन की इकाइयों के निर्धारण के लिए सबसे निम्न स्तर की इकाई का निर्धारण पहले करना चाहिए। उसके पश्चात् इन छोटी इकाईयों का समूह बनाकर मध्यम स्तर की इकाईयो तथा मध्यम स्तर की इकाईयों का समूह बना कर बृहतस्तर की इकाईयों का निर्धारण किया जा सकता है।

(v) सिद्धान्ततः प्रादेशिक सीमा रेखाओं को विभिन्न श्रेणी के प्रदेशों को काटना नहीं चाहिए। सूक्ष्म स्तर पर प्रादेशिक सीमा रेखाएं, प्रशासनिक सीमा रेखाओं के अनुरूप होनी चाहिए क्योंकि आंकड़े इन्हीं इकाईयों के लिए एकत्र किए जाते हैं।

(vi) मध्यम स्तर के नियोजन प्रदेश लघु स्तर की इकाईयों को मिलाकर निर्धारित किए जाने चाहिए। इनको एक समूह में मिलाने से पहले प्राकृतिक कारकों तथा संसाधन भण्डारों की एकरूपता को देखना आवश्यक है।

(vii) मध्यम स्तर के क्षेत्रों को मिलाकर बृहत् क्षेत्रों का निर्धारण किया जाना चाहिए। सामान्यतः उन सभी राज्यों को एक समूह में रखना चाहिए जिनकी संसाधन उपयोग सम्बन्धी समस्याएँ समान हों। ये प्रदेश बड़े भू-भाग पर फैले होते हैं। इनमें विविध संसाधनों के भण्डार पाये जाते हैं तथा इनमें स्व-निर्वाहित अर्थ व्यवस्था विकसित हो सकती है।

ऊपर दिए गये सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर भारत को 13 नियोजन प्रदेशों में विभाजित किया गया है (चित्र 5.2, सारणी 5.1), यद्यपि यह सूची बहुत विस्तृत सूची नहीं है। 1967 में गैलिना द्रयास्युक एवं पी. सेनगुप्ता ने 7 बृहत् एवं 48 मध्यम स्तर के प्रदेशों का निर्धारण किया था। अतः नियोजन प्रदेशों की संख्या एवं उनकी सीमाएँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि उनके निर्धारण की कसौटी क्या रही है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है अतः कृषि खंड का विकास अर्थ व्यवस्था के आद्योपान्त विकास के लिए बहुत आवश्यक है। अब कृषि-जलवायु मंडलों पर आधारित कृषि विकास नियोजन को कृषि सम्भाव्यताओं का पूर्ण उपयोग करके क्षेत्रीय विषमताओं को कम करने के लिए अधिक उचित समझा जाने लगा है। कृषि-जलवायु नियोजन के

भारत
योजना प्रदेश

9a 9b 10a 10b 7a 7b 8a 8b 11a 11b 12a 12b 12c 13a 13b 13c 6a 6b 4a 4b 5a 5b 5c 5d 5e 5f 3a 3b 2a 2b 2c 2d 1a 1b 1c

दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता के महानगर क्षेत्र

Based upon Survey of India Outline Map printed in 1987.
The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.
The boundary of Meghalaya shown on this map is as interpreted from the North-Eastern Areas (Reorganisation) Act, 1971, but has yet to be verified.
Responsibility for correctness of internal details shown on the map rests with the publisher.

चित्र 5.2 भारत-योजना प्रदेश

मुख्य उद्देश्य है: प्रत्येक प्रमुख कृषि उत्पाद की माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन लाना, उत्पादकों की आय में वृद्धि करना, अतिरिक्त रोजगार के अवसर पैदा करना तथा भूमि, जल एवं वन जैसे प्राकृतिक संसाधनों के निर्वाही उपयोग के लिए एक ढाँचा तैयार करना।

कृषि–जलवायु नियोजन से संसाधनों का वैज्ञानिक एवं सक्षम उपयोग सम्भव है। जलवायु, मिट्टी के प्रकार, धरातल, जल संसाधनों तथा सिंचाई सुविधाओं के पूर्ण मूल्यांकन से कृषि के विकास एवं विविधरूपण की सम्भाव्यताओं के शोषण को आधार मिलेगा।

मिट्टी के प्रकार, वर्षा, तापमान, जल-संसाधनों की समांगता के आधार पर देश को 15 कृषि–जलवायु मंडलों में बाँटा गया है:

1. पश्चिमी हिमालय प्रदेश
2. पूर्वी हिमालय प्रदेश
3. गंगा की निचली घाटी का मैदानी प्रदेश
4. गंगा की मध्य घाटी का मैदानी प्रदेश
5. गंगा की ऊपरी घाटी का मैदानी प्रदेश
6. ट्रान्स–गंगा का मैदानी प्रदेश
7. पूर्वी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश
8. मध्य पठार एवं पहाड़ी प्रदेश
9. पश्चिमी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश
10. दक्षिणी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश
11. पूर्वी तटीय मैदान तथा पहाड़ी प्रदेश
12. पश्चिमी तटीय मैदान तथा पहाड़ी प्रदेश
13. गुजरात का मैदान तथा पहाड़ी प्रदेश
14. पश्चिमी शुष्क प्रदेश
15. द्वीप प्रदेश

प्रत्येक प्रदेश में भूमि तथा जल एवं फसल प्रारूप के विकास की नीतियों का निर्धारण किया जा चुका है। फसल उगाने के अतिरिक्त वानिकी, मत्स्यन, पशुपालन एवं कृषि उत्पादों के प्रक्रमण पर भी बल दिया जा रहा है।

प्रदेश की संकल्पना के साथ और कई संकल्पनाएँ भी हैं जिनको समझना अति आवश्यक है। इनसे प्रादेशिक विकास को समझने में सुविधा होती है।

विकास की संकल्पना

प्रादेशिक विकास के सन्दर्भ में विकास की धारणा से तात्पर्य उस संकल्पना से है जो मूल्य-धनात्मक है तथा जिसका मुख्य उद्देश्य लोगों के रहन-सहन के स्तर एवं मानव कल्याण की सामान्य दशाओं को बढ़ावा देना है। यह संकल्पना मूल्य-धनात्मक इसलिए है कि विकास का अर्थ केवल परिवर्तन नहीं है या हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक परिवर्तन विकास नहीं होता। विकास में परिवर्तन का केवल धनात्मक पक्ष ही मान्य है। पौधा एक पेड़ के रूप में एवं बच्चा एक युवा के रूप में विकसित होता है और एक बार विकास की एक स्थिति प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसको पलटा नहीं जा सकता। आर्थिक विकास, उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय की वृद्धि द्वारा परिलक्षित होता है। अतएव आर्थिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण सूचक प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि है। विकास न तो वर्ग तटस्थ होता है नहीं किसी प्रदेश के प्रत्येक भाग में समरूपता से दिखाई पड़ता है। समाज में कुछ वर्ग के लोग विकास से अधिक लाभान्वित होते हैं तथा कुछ वर्गों के लोग कम। कुछ प्रदेश विकास के उच्च स्तर को प्राप्त कर लेते हैं परन्तु कुछ प्रदेश उस स्तर को नहीं प्राप्त कर पाते। इस प्रकार सामाजिक

सारणी 5.1

भारत के नियोजन प्रदेश

	1	2	3	4
	बृहत् प्रदेश तथा इसमें सम्मिलित राज्य/जिले	प्रमुख औद्योगिक एवं नगरीय प्रदेश	समन्वित विकास के लिए संसाधन	एकीकरण के तत्व
1.	दक्षिणी प्रायद्वीप (केरल एवं तमिल नाडु)	कोयम्बटूर, कोचीन,मद्रास	तटीय मत्स्यन, कृषि, कोयम्बटूर पठार के खनिज संसाधन, पश्चिमी घाट के वन-क्षेत्र तथा मैदानी भागों में कृषि, सिंचाई एवं ऊर्जा के लिए जल संसाधन, ताप एवं आणविक ऊर्जा।	भौतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध जिन्हें परिवहन मार्गों को विकसित करके सुदृढ़ किया गया है।
2.	मध्य प्रायद्वीप (कर्नाटक, गोआ, उत्तरी पूर्वी भाग के अतिरिक्त सम्पूर्ण आंध्र प्रदेश)	बंगलोर, हैदराबाद,	तटीय मत्स्यन, आंध्र मैदान की कृषि, गोआ एवं कर्नाटक के लौह अयस्क, मैंगनीज एवं बाक्साइट, मालनाड तथा कुर्ग की बागानी कृषि तथा जल–संसाधन।	तुंगभद्रा पर बहूद्देशीय परियोजना, औद्योगिक विकास द्वारा सुदृढ़ किए गए ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध।
3.	पश्चिमी प्रायद्वीप (पश्चिमी महाराष्ट्र, इसके तटीय एवं आन्तरिक जिले)	बम्बई, पुणे, नासिक एवं शोलापुर	तटीय मत्स्यन, कपास, लौह एवं अलौह खनिजों के भंडार, जल विद्युत एवं आणविक ऊर्जा	बम्बई महानगर एवं बन्दरगाह का पृष्ठ–प्रदेश, घनिष्ठ आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध।
4.	मध्य दक्कन (पूर्वी महाराष्ट्र, मध्य एवं दक्षिणी मध्य प्रदेश)	नागपुर	फलोद्यान, कपास, लौह अयस्क (चन्द्रपुर) कृषि पर आधारित उद्योग, नर्मदा की जल–ऊर्जा तथा सतपुड़ा की तापीय ऊर्जा की सम्भाव्यताएं।	भौतिक दशाओं एवं मिट्टी की समांगता, विकास के लिए बाह्य उद्दीपक तत्वों के लिए कम खुलापन

5.	पूर्वी प्रायद्वीपीय भाग (उड़ीसा, दक्षिणी बिहार, उत्तरी पूर्वी आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश के संलग्न जिलों के भाग तथा पश्चिम बंगाल)	राउरकेला, जमशेदपुर आसन सोल, भिलाई, दुर्गापुर, सम्बलपुर, कटक एवं विशाखापट्टनम्	तटीय मत्स्यन, कोयला, लौह अयस्क, मैंगनीज, बाक्साइट, अभ्रक, वन, कृषि, महानदी बेसिन की कृषि, जल विद्युत एवं ताप विद्युत का विकास, लौह–इस्पात के कारखाने तथा आधार–भूत उद्योग।	संसाधनों की पूरकता के कारण तथा तीव्रता से विकसित होने वाली तटीय पट्टी।
6.	गुजरात (गुजरात राज्य)	अहमदाबाद, वदोदरा, सूरत, पोरबन्दर	पैट्रो–रसायन, नमक, चूना–पत्थर, बाक्साइट, सिंचित कृषि की सम्भावनायें (दांतीवाड़ा, नर्मदा) मत्स्यन, पशुपालन।	सांस्कृतिक एकता एवं परिवहन मार्गों द्वारा प्रदत्त अनुबंधन।
7.	पश्चिम राजस्थान	जोधपुर, बीकानेर, श्री गंगा नगर	लिगनाइट, जिप्सम,चूना–पत्थर, बहुमूल्य पत्थर, पेट्रोलियम एवं आणविक ऊर्जा की संभावनाएँ, पशुपालन, सिंचित कृषि (इंदिरा गांधी नहर)	भौतिक तथा जलवायु दशाओं में उच्चस्तर की समांगता, इन्दिरा गाँधी नहर का विकास, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध
8.	अरावली क्षेत्र (पूर्वी राजस्थान तथा पश्चिमी मध्य प्रदेश)	कोटा, जयपुर, अजमेर, इन्दौर, रतलाम, सवाई माधोपुर	अलौह धातुएँ, सीसा, जस्ता, ताँबा, अभ्रक, चूना पत्थर, संगमरमर, नमक, पशुपालन, सिंचित कृषि, जलविद्युत (चम्बल घाटी परियोजना) आणविक ऊर्जा (कोटा)	ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संबंध
9.	जम्मू–कश्मीर एवं लद्दाख	श्रीनगर, सोपोर, जम्मू एवं लेह	वन संसाधन, फलोद्यान, पर्यटन, जल-विद्युत का विकास	भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समानता, सीमान्त क्षेत्र में रहने के कारण विकसित मानसिकता

10.	ट्रान्स-सिन्धु-गंगा का मैदान एवं पहाड़ियाँ (पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, प. उत्तर प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जिले)	दिल्ली, मेरठ, गाजियाबाद लुधियाना,चण्डीगढ़, गुड़गाँव एवं फरीदाबाद	पंजाब के मैदान में सिंचित कृषि के विकास का उच्च-स्तर (गेहूँ, कपास, गन्ना तथा चारे की फसलें), हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में फलोद्यान तथा वानिकी का विकास, पर्यटन, कृषि पर आधारित उद्योग।	उर्वर मिट्टी, मेहनती लोग, सामाजिक, साँस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सम्बन्ध।
11.	गंगा–यमुना का मैदान (पूर्वी, मध्य एवं दक्षिणी–पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के उत्तरी जिले)	कानपुर, आगरा वाराणसी, इलाहाबाद, लखनऊ	गंगा के मैदान के कृषि संसाधन (गन्ना, चावल तथा गेहूँ), मध्य प्रदेश क्षेत्र के वन, कृषि पर आधारित उद्योग एवं ऊर्जा की सम्भावनायें।	सापेक्षतया सामाजिक स्थिरता, गंगा - यमुना का सांस्कृतिक प्रभाव।
12.	निचली गंगा घाटी का मैदान (उत्तरी बिहार तथा लगभग संपूर्ण पश्चिम बंगाल)	कलकत्ता, पटना, बरौनी, बद्र्धमान	मैदानी भागों में कृषि (जूट) पर्वतीय भागों पर चाय, बरौनी–हल्दिया में पेट्रो–रसायन उद्योग, ताप तथा जल विद्युत।	आर्थिक अन्तःनिर्भरता, कलकत्ता बन्दरगाह का अपने पृष्ठ–प्रदेश पर प्रभाव, पर्याप्त बड़े क्षेत्र पर सामाजिक, सांस्कृतिक, समरूपता।
13.	उत्तरी–पूर्वी क्षेत्र (असम, पूर्वोत्तर के अन्य राज्य, उत्तरी बंगाल के पर्वतीय जिले)	डिगबोई, गुवाहाटी, शिलांग, तिनसुकिया	चाय, जूट, पेट्रोलियम, सिलिमिनाइट का खनन, वानिकी, जलविद्युत विकास की संभावनायें, ताप-बिजली।	आर्थिक अन्तःनिर्भरता, सांस्कृतिक विविधता द्वारा जनित सामाजिक अन्तःनिर्भरता । जन–जातीय संस्कृति एवं सामाजिक संरचना।

सारणी 5.2

वृहत् नियोजन प्रदेश का मध्यम स्तर के प्रदेशों में विभाजन

क्र. सं. 1	मध्यम स्तर के प्रदेश का नाम 2	उपलब्ध संसाधन 3	आर्थिक विशिष्टीकरण 4
1.	(क) केरल	बागानी कृषि, वानिकी, नारियल, थोरियम, जलविद्युत की संभावनायें	बागानी कृषि तथा उससे सम्बद्ध उद्योग मत्स्यन, वनों पर आधारित उद्योग, जहाज निर्माण उद्योग, हल्की इंजीनियरी।
1.	(ख) मद्रास-कोयम्बटूर औद्योगिक प्रदेश	नेवेली लिगनाइट, लौह अयस्क, मैग्नेसाइट कपास, नारियल, गन्ना, औद्योगिक फसलें।	हल्की इन्जीनियरी, चीनी मिट्टी के बर्तन, सीमेन्ट, लौहांश की धातुओं पर आधारित उद्योगों की सम्भावनाएँ। कपड़ा, गन्ना तथा खाद्य तेल
1.	(ग) तमिलनाडु के तटीय मैदान का प्रदेश	चावल, कपास, तथा ज्वार-बाजरा, रागी की कृषि, सामुद्रिक मत्स्यन, नमक, चूना पत्थर	डेल्टाई क्षेत्र की कृषि, कृषि पर आधारित उद्योग, मत्स्यन, पर्यटन।
2.	(क) कर्नाटक तट तथा आन्तरिक औद्यौगिक प्रदेश	समृद्ध वन, जल–विद्युत संसाधन, बागानी कृषि, लौह अयस्क, मैगनीज़, सोना।	वनाधारित उद्योग, इन्जीनियरी तथा वायुयान निर्माण उद्योग।
2.	(ख) रायलसीमा तथा संलग्न तटीय मैदान प्रदेश	सिंचाई की संभाव्यता (तुंगभद्रा), संभावित लौह अयस्क भंडार, बहुमूल्य पत्थर।	सिंचित कृषि, मिश्रित कृषि, हल्के इन्जीनियरी उद्योग।
2.	(ग) बेलारी तथा होस्पेट का खनन एवं औद्योगिक प्रदेश	लौह एवं अलौह खनिजों की संभाव्यता (लौह–अयस्क, मैंगनीज, बाक्साइट, चीनी मिट्टी)।	लौह-इस्पात उद्योग, पशु पालन, सिंचित कृषि (कृष्णा घाटी परियोजना)।

2.	(घ) तेलंगाना एवं आंध्र तटीय मैदान	कोयला, जल–विद्युत, लौह एवं अलौह खनिज, खाद्य फसलें एवं तम्बाकू।	नागार्जुन सागर बाँध से प्राप्त जलविद्युत पर आधारित तटीय मैदान की गहन कृषि, खाद्य प्रक्रमण एवं तम्बाकू पर आधारित उद्योग।
3.	(क) बम्बई–दक्कन एवं लावा प्रदेश का कृषि पर आधारित उद्योग प्रदेश	मुख्यतः कपास एवं मोटे खाद्यान्न	कपास प्रक्ररण, एवं पर्यटन।
3.	(ख) कोंकण तथा दक्कन का कृषि औद्योगिक प्रदेश	ऊर्जा, कपास, फलोद्यान।	कपास प्रक्रमण, हल्के इन्जीनियरी उद्योग, मत्स्यन।
4.	(क) मध्य प्रदेश का नर्मदा घाटी के प्रदेश	कपास एवं मोटे खाद्यान्न।	कपास प्रक्रमण, नर्मदा की जलविद्युत पर आधारित भारी उद्योगों की संभावनायें। उर्वरक, चीनी मिट्टी तथा रसायन।
4.	(ख) खान देश, बरार प्रदेश	कपास, कोयला, लोहा।	कपास प्रक्रमण, लौह धातु पर आधारित धातु उद्योग।
5.	(क) उत्तरी–पूर्वी दक्कन तथा तटीय मैदान	मैंगनीज, खाद्य फसलें, मत्स्यन।	कृषि (महानदी डेल्टा), कृषि उत्पाद प्रक्रमण, मत्स्यन।
5.	(ख) दण्डकारण्य	वन, लौह अयस्क	वनों पर आधारित उद्योग, लौह तथा इस्पात उद्योग।
5.	(ग) महानदी बेसिन	ऊर्जा, चावल	चावल की कृषि, संलग्न क्षेत्रों से उपलब्ध खनिजों पर आधारित औद्योगिक विकास
5.	(घ) सोन घाटी प्रदेश	रिहंद बाँध से सन्निकटता, ऊर्जा एवं छोटा नागपुर से खनिज	खनिजों पर आधारित उद्योगों की संभावनायें।

5.	(ड.) छोटा नागपुर औद्योगिक प्रदेश	ऊर्जा संसाधन, लौह एवं अलौह खनिज।	भारी इन्जीनियरी उद्योग, कोयला, तथा रसायन उद्योग।
5.	(च) ब्राहमणी औद्योगिक प्रदेश	लौह-अयस्क	धातु पर आधारित उद्योग
6.	(क) गुजरात मैदान एवं पहाड़ी प्रदेश	ऊर्जा संसाधन, पेट्रोलियम, कपास।	कपास प्रक्रमण, पेट्रो-रसायन उद्योग।
6.	(ख) काठियावाड़-कच्छ प्रदेश	चूना पत्थर, बाक्साइट, कपास, तिलहन	कपास प्रक्रमण, पशुपालन, रसायन उद्योग।
7.	(क) मरुस्थली प्रदेश	जिप्सम, चूना पत्थर, लिगनाइट, सिंचित कृषि (इन्दिरा गाँधी नहर)।	पशुपालन, कपास, सिंचित भागों में गन्ना, जिप्सम पर आधारित उद्योग, चूना पत्थर, लिगनाइट।
7.	(ख) अद्‌र्ध-मरूस्थली प्रदेश	पशुपालन, संगमरमर।	पशुपालन, सीमित असिंचित कृषि, इमारती पत्थर।
8.	(क) कोटा औद्योगिक एवं चम्बल घाटी प्रदेश	ऊर्जा संसाधनों में समृद्ध, अलौह धातुयें, चूना पत्थर, नमक।	अलौह धातु पर आधारित उद्योग, सिंचित कृषि (चम्बल घाटी परियोजना)।
8.	(ख) जयपुर-उदयपुर प्रदेश	तांबा (खेतड़ी एवं जावर)।	तांबा प्रगलन, मिश्रित कृषि एवं पर्यटन।
9.	(क) जम्मू-कश्मीर	वन, फलोद्यान चरागाह।	वनों पर आधारित उद्योग तथा फल प्रक्रमण, पर्यटन, पशुचारण।
9.	(ख) लद्दाख	चरागाह।	पशुपालन, पर्यटन

10.	(क) भाखड़ा-नाँगल कृषि औद्योगिक प्रदेश	गेहूँ, गन्ना तथा चारा उगाने के लिए उर्वर भूमि, पर्वतों पर फलोद्यान।	कृषि, गेहूँ उत्पादन में विशिष्टीकरण, दुग्ध उत्पाद प्रक्रमण, कपड़ा उद्योग, हल्के इन्जीनियरी उद्योग, पर्यटन।
10.	(ख) दिल्ली, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मैदान तथा उत्तर प्रदेश के पर्वतीय प्रदेश	गेहूँ गन्ना, फलोद्यान, जल-विद्युत।	कृषि, हल्के इन्जीनियरी उद्योग, पर्यटन, कृषि पर आधारित उद्योग, फलोद्यान।
11.	(क) कानपुर-आगरा औद्योगिक प्रदेश	गन्ना, कपास, गेहूँ, तिलहन।	कृषि, कृषि पर आधारित उद्योग, हल्के इन्जीनियरी उद्योग, कांच एवं चमड़ा उद्योग।
11.	(ख) पूर्वी उत्तर प्रदेश-बघेल खण्ड प्रदेश	गन्ना एवं गेहूँ।	कृषि एवं कृषि पर आधारित उद्योग।
12.	(क) उत्तरी बिहार का कृषि-औद्योगिक प्रदेश	चावल, गन्ना, बरौनी तेल परिष्करणशाला।	कृषि पर आधारित उद्योग, पेट्रो-रसायन उद्योग।
12.	(ख) कलकत्ता-हुगली औद्योगिक प्रदेश	चावल, जूट, तथा ऊर्जा संसाधनों के स्रोतों से सन्निकटता	उच्च-तकनीकों पर आधारित उद्योग।
12.	(ग) उत्तरी बंगाल मैदान	चावल की कृषि।	कृषि पर आधारित उद्योग।
13.	(क) ब्रह्मपुत्र की निचली घाटी तथा शिलांग-पठार प्रदेश	जूट, चाय, सिल्लिमेनाइट, फलोद्यान उत्पाद, वन संसाधन एवं कोयला।	जूट की कृषि, कोयला, रसायन उद्योग।
13.	(ख) ऊपरी ब्रह्मपुत्र घाटी तथा पहाड़ी प्रदेश	चाय, पेट्रोलियम, लकड़ी, कोयला, प्राकृतिक गैस।	प्राकृतिक गैस एवं पेट्रो—रसायन उद्योग।
13.	(ग) पूर्वी पहाड़ी एवं मैदानी प्रदेश	चाय, जूट, वन संसाधन।	वनों पर आधारित उद्योग

नोट : भारत के आर्थिक प्रदेशीकरण की कोई भी विधि पूर्ण नहीं है। प्रत्येक प्रदेशीकरण के अपने गुण एवं दोष हैं अतः ऊपर दी गई सारणी में प्रस्तुत विभाजन उदाहरण स्वरूप है।

एवं प्रादेशिक विषमता का जन्म होता है। इस विषमता के लिए विकास के प्राचलों (पैरामीटर) का व्यवहार उत्तरदायी होता है।

विकास के प्राचल

प्राकृतिक पर्यावरण, प्रौद्योगिकी एवं संस्थाएं आर्थिक विकास के तीन आधार भूत प्राचल हैं। प्राकृतिक पर्यावरण आर्थिक विकास की दिशा निर्धारित करता है। साथ ही साथ यह विकास के स्तर (दिए गये प्रौद्योगिकी स्तर पर) की सीमा भी निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, नदी घाटियों में कृषि, वनाच्छादित क्षेत्रों में लकड़ी काटना तथा तटीय क्षेत्रों में मत्स्यन लोगों के मुख्य व्यवसाय होते हैं। परन्तु किसी भी प्रदेश में उत्पादन का स्तर वहाँ के लोगों को उपलब्ध प्रौद्योगिकी पर निर्भर होता है। प्रौद्योगिकी वह अस्त्र है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने प्राकृतिक पर्यावरण से अन्तःक्रिया करता है। परंतु प्रौद्योगिकी की अपनी विशेषतायें हैं। आदिम प्रौद्योगिकी आकार–तटस्थ होती है और इसलिए प्रत्यके आय–वर्ग के लोगों को समान रूप से उपलब्ध होती है। मध्यम स्तर की प्रौद्योगिकी आकार–अभिनत होती है तथा उन्हीं लोगों को उपलब्ध होती है जिनके पास पूंजी होती है। बड़े पैमाने की उच्चस्तरीय प्रौद्योगिकी प्राप्त करने में बड़ी लागत लगानी पड़ती है अतः यह समाज के स्वामित्व में लानी पड़ती है। सार्वजनिक स्वामित्व की प्रौद्योगिकी सभी को किराये पर उपलब्ध होती है। इस प्रकार मध्यम स्तर की प्रौद्योगिकी विभिन्न वर्गों एवं प्रदेशों के बीच आय विषमता को जन्म देती है। मनुष्य ने समाज को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए संस्थायें बनाई हैं। इनका मुख्य उद्देश्य आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना है। परन्तु जब ये संस्थाएं अलोचनीय हो जाती हैं तब वे आर्थिक विकास की दर को अवरूद्ध कर देती हैं। यही कारण है कि समय समय पर संस्थाओं के ढांचे में परिवर्तन लाना पड़ता है। इस प्रकार आर्थिक विकास प्रकृति पर्यावरण, प्रौद्योगिकी एवं संस्थाओं के मध्य अनुरूपी अन्तःक्रिया पर निर्भर करता है।

भारत में बहु-स्तरीय नियोजन

नियोजन का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पहचान करना तथा ऐसी नीतियों का निर्धारण करना है जिससे उन लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। साध्य एवं साधनों के समन्वय द्वारा आर्थिक समस्याओं के उचित समाधान के लिए प्रयास करना भी इसका मुख्य उद्देश्य है। समय के विचार से नियोजन लघुकालीन अथवा दीर्घकालीन होता है। यह अर्थव्यवस्था के दिक्स्थानिक एवं खण्डीय (सेक्टोरल) पक्षों के विकास का प्रयत्न करता है। जब हम खण्डीय नियोजन की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि अर्थव्यवस्था के प्राथमिक, द्वितीयक एवं तृतीयक खण्डों को उनकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए संसाधनों का आवटन किस प्रकार किया जाए। दिक्स्थानिक नियोजन अथवा प्रादेशिक नियोजन में मुख्यतः प्रदेशों के सन्तुलित विकास का ध्यान रखा जाता है जिससे प्रादेशिक विषमताओं को कम किया जा सके। प्रारम्भ में भारतीय नियोजन का स्तर राष्ट्र तथा राज्य रहे हैं। बाद में जिला एवं विकास खण्ड को भी नियोजन की इकाई के रूप में लिया गया है। राष्ट्रीय स्तर के नियोजन में मुख्य भूमिका

केन्द्र सरकार की होती है। प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनायें केन्द्र द्वारा बनाई गई थीं परन्तु चौथी पंचवर्षीय योजना में राज्यों ने भी अपनी योजनाओं को बनाया। परन्तु कार्यान्वयन के स्तर पर राज्य, जिले तथा विकास खण्ड नियोजन की प्रक्रिया में सम्मिलित होते हैं। राज्य के स्तर पर नियोजन प्रणाली को मजबूत करने के लिए 1972 में योजना आयोग ने एक योजना बनाई जबकि 1969 में ही जिला नियोजन के निर्देश दे दिए गये थे। लक्ष्य-क्षेत्रों एवं लक्ष्य–समूहों के नियोजन की आवश्यकता उनकी गरीबी दूर करने एवं रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के लिए पड़ी। अतः नियोजन प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो गया। 1978-83 काल में विकास खण्ड के नियोजन का प्रादुर्भाव किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण विकास कार्यक्रम को स्थानीय संसाधनों के बेहतर उपयोग द्वारा सुदृढ़ बनाना था। इस प्रकार 'नीचे से नियोजन' का अनुभव प्राप्त हुआ, और लघु क्षेत्रीय इकाइयों के नियोजन द्वारा ही प्रादेशिक नियोजन का आविर्भाव हुआ।

जिला नियोजन बहु-स्तरीय नियोजन का ही एक उप-तंत्र है जो एक नियोजन इकाई द्वारा जिले में चालू किया जाता है। जिला नियोजन को एक ओर राज्य नियोजन एवं दूसरी ओर विकास खण्ड नियोजन से जोड़ना पड़ेगा। विकास खण्ड एवं गांव, वास्तव में, योजनाओं के कार्यान्वयन की इकाइयां हैं न कि योजना बनाने की। विकास खण्ड के स्तर पर पंचायत समितियाँ विकास कार्यों की देखरेख करती हैं।

प्रादेशिक तथा विकेन्द्रीकृत नियोजन की आवश्यकता तथा नियोजन प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी को पिछले दशकों में पर्याप्त महत्व मिला है छठी पंचवर्षीय योजना ग्रामीण विकास तथा ग्रामीण नियोजन के पक्ष में अभिनत थी। अतः योजना आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रपत्र में राज्य के नीचे के स्तरों विशेषतः जिला एवं विकास खण्ड की योजनाओं पर अधिक जोर दिया गया था।

"विकास खण्ड स्तर पर नियोजन" पर दांतवाला कमेटी एवं 'पंचायती राज्य संस्था' पर अशोक मेहता कमेटी योजना आयोग द्वारा बैठाई गई थी। इनका प्रमुख उद्देश्य छठी पंचवर्षीय योजना द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निर्देश देना था। विकास के स्तर पर नियोजन के विचार ने फिर जोर पकड़ा क्योंकि योजना आयोग की यह धारणा रही है कि विकास खण्ड नियोजन की प्राथमिक इकाई है तथा इसके द्वारा स्थानीय पर्यावरण एवं क्षमता के अनुरूप नियोजन किया जा सकता है।

दांतवाला कमेटी के अनुसार निम्नलिखित क्रियाएँ विकास खंड के स्तर पर नियोजित और कार्यान्वित की जा सकती हैं:

(1) कृषि एवं सम्बन्धित क्रियायें
(2) गौण सिंचाई
(3) मृदा संरक्षण एवं जल-प्रबन्ध
(4) पशुपालन एवं मुर्गी पालन
(5) मत्स्यन
(6) वानिकी
(7) कृषि उत्पादों का प्रक्रमण
(8) कृषि उत्पादन के साधनों की पूर्ति
(9) कुटीर एवं लघु उद्योग
(10) स्थानीय सुविधा आधार
(11) सार्वजनिक सुविधाएँ
  क) पेय जल आपूर्ति
  ख) स्वास्थ्य तथा पोषण

ग) शिक्षा
घ) आवास
ड.) सफाई
च) स्थानीय परिवहन
छ) जनकल्याण कार्यक्रम

(12) स्थानीय युवकों को प्रशिक्षण तथा स्थानीय जनसंख्या के कौशल में वृद्धि।

विकास खण्ड के स्तर पर नियोजन की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इस स्तर पर नियोजन की कोई संस्था नहीं है। विकास खण्ड अधिकारी योजनाओं को ऊपर के निर्देशानुसार कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी हैं। पहले तो इनके पास योजना बनाने की क्षमता नहीं है। दूसरे यह कि सभी विकास खण्ड एक जैसे समृद्ध नहीं हैं। अतः सभी विकास खंड उपयुक्त नियोजन इकाई नहीं बन सकते। पंचायत समितियाँ भी विकास के प्रबन्ध में सक्षम नहीं हैं। वे यह निर्धारित नहीं कर पाई कि विकास का फल सभी को मिले। लघुस्तर पर नियोज़न के लिए आवश्यक है कि इसके लिए उपयुक्त इकाइयाँ बनाई जाये (चाहे वह गाँवों का एक समूह ही क्यों न हो)। इन समूहों में से कुछ विकास केन्द्रों का चयन करके उनका विकास आवश्यक है।

कुछ चुने हुए क्षेत्रों का विशिष्ट अध्ययन

1.दामोदर घाटी निगम

दामोदर नदी हुगली नदी की सहायक नदी है, जो छोटानागपुर में अपने उद्गम स्थान से, बिहार एवं पश्चिम बंगाल राज्यों में बहती हुई 541 किलोमीटर की दूरी तय करने के बाद हुगली से मिलती है। इस नदी की कुल लम्बाई में से 270 किलोमीटर बिहार में तथा शेष पश्चिम बंगाल में है। अपने ऊपरी भाग में, यह देव नदी के नाम से जानी जाती है। दामोदर नदी द्वारा बिहार राज्य के रांची, हजारीबाग, धनबाद, और संथाल परगना तथा पश्चिम बंगाल के बांकुड़ा एवं बर्द्धमान जिलों का जल-प्रवाहित होता है। छोटानागपुर से निकलने के पश्चात् लगभग 40 किलोमीटर तक यह हज़ारीबाग तथा रांची जिलों की सीमा रेखा बनाती हुई बहती है। इसके बाद यह हज़ारीबाग जिले से होकर बहती है जहाँ बोकारो नदी इससे मिलती है। धनबाद जिले में बराकर नदी दामोदर से मिलती है। बराकर से मिलने के बाद यह नदी पश्चिम बंगाल में प्रविष्ट होती है। बांकुड़ा जिले से बहती हुई यह बर्द्धमान जिले में प्रवेश कर जाती है। बर्द्धमान नगर से यह दक्षिण की ओर मुड़ती है और कलकत्ता से लगभग 50 किलोमीटर उत्तर हुगली से मिल जाती है। पश्चिम बंगाल तथा बिहार में कुल मिलाकर 24.33 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर दामोदर घाटी विस्तृत है। दामोदर भारत के कोयले की प्रमुख मेखला में होकर बहती है। दामोदर नदी में बाढ़ बहुत अधिक आती थी जिसके कारण बिहार तथा पश्चिम बंगाल में भारी क्षति पहुंचती थी। इसीलिए दामोदर को 'बिहार का दुःख' कहते थे। 1823, 1848, 1856, 1859, 1863, 1882, 1890, 1898, 1901, 1905, 1907, 1913, 1916, 1923, 1935, तथा 1943, में आने वाली बाढ़ें इस बात का प्रमाण है। इन्हीं बाढ़ों ने बंगाल तथा बिहार की सरकारों का ध्यान आकृष्ट किया। इन सरकारों ने बाढ़-नियंत्रण, जन-संरक्षण तथा जल-विद्युत बनाने की ओर ध्यान दिया। दामोदर बाढ़ जांच कमेटी ने संयुक्त राज्य टेनेसी घाटी प्राधिकरण की भांति दामोदर घाटी के विकास की योजना सुझाई।

भौतिक स्वरूप

दामोदर घाटी, छोटानागपुर पठार के बीचोंबीच पूर्व-पश्चिम दिशा में विस्तृत एक अवनत खड्ड में स्थित है। इस के उत्तर में छोटानागपुर पठार तथा हज़ारीबाग जिला एवं दक्षिण में राँची जिला पाया जाता है। इस पठारी भाग की औसत ऊँचाई समुद्र तल से 300 से 600 मीटर पाई जाती है। नदी का उद्गम समुद्र तल से 510 मीटर की ऊँचाई पर है। समुद्र तल से केवल 30 मीटर की ऊँचाई पर यह हुगली से मिलती है। उद्गम एवं संगम के मध्य ऊँचाई का यह अन्तर इस नदी की प्रवणता एवं इस की अपरदन शक्ति की परिचायक है। नदी पठारी भाग को छोड़ कर बर्द्धमान ज़िले में 150 मीटर की ऊँचाई से मैदान में उतरती है।

यह नदी एक कटे फटे तथा तरंगित भाग से होकर अपना मार्ग बनाए हुए है। यह एक पठारी भाग से मैदानी भाग में यकायक उतरती है। इसकी अधिकांश सहायक नदियां मुख्य नदी के बायें किनारे पर मिलती हैं। जहाँ पर सहायक नदियाँ मुख्य नदी से मिलती हैं, वे स्थान जलविद्युत गृह बनाने के लिए बहुत उपयुक्त हैं। तरंगित धरातल तथा भ्रंशित स्तरों की संरचना न केवल कोयला निकालने के लिए बल्कि नदियों पर बाँध बनाने के लिए भी उपयुक्त हैं।

जलवायु दशाएँ एवं जल—विद्युत विकास

इस क्षेत्र में 125 सेन्टीमीटर की औसत वार्षिक वर्षा होती है जो मुख्यतः जून से सितम्बर तक ही संकेद्रित है। कभी इस क्षेत्र में भारी चक्रवाती वर्षा भी होती है। नदी के उद्गम क्षेत्र में निचले भाग की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है। वर्षा काल में भारी वर्षा के समय यहाँ बाढ़ आने की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि पानी की मात्रा को नदी-घाटी संभाल नहीं पाती। नदी की बढ़ी हुई अपरदन शक्ति के कारण पानी में अवसाद की मात्रा बढ़ जाती है और बाढ़ की स्थिति और गम्भीर हो जाती है। पहाड़ियों के ऊपरी भाग में वनों के कट जाने से अपरदन की मात्रा बढ़ गई है। जैसे ही नदी अपनी तंग घाटी से आसनसोल के पास बाहर निकलती है इस का प्रवाह स्वच्छंद हो जाता है। बर्द्धमान से निचले भाग के मैदानी भाग में भयंकर बाढ़ आ जाती है। कभी कभी बाढ़ का पानी 2 से 2.5 मीटर ऊँचा चढ़ जाता है तथा फसलों एवं बस्तियों को गहरी क्षति पहुँचती हैं भयंकर बाढ़ें तो अन्तराल से आती हैं, परन्तु छोटी-मोटी बाढ़ें तो प्रत्येक वर्ष आती रहती हैं। दामोदर द्वारा लाये गये अवसाद हुगली नदी में समस्या उत्पन्न करते हैं। इस का कुप्रभाव कलकत्ता पत्तन पर भी पड़ा हैं।

बाढ़ के प्रकोप को नियन्त्रित करने तथा उस से सम्बद्ध समस्याओं से निपटने के लिए केन्द्र सरकार ने बिहार एवं बंगाल की सरकारों से विचार विमर्श करके टेनेसी घाटी प्राधिकरण की रूप रेखा के अनुसार डब्लयू. एल. वुरडुइन द्वारा तैयार की गई, दामोदर घाटी के लिए एक एकीकृत परियोजना की रूप रेखा बनाई। 18 फरवरी 1948 को दामोदर घाटी निगम एक वास्तविकता बन गया क्योंकि इसी दिन संसद ने इस की स्थापना के प्रस्ताव को पास किया था।

वास्तविक रूपरेखा में इस नदी पर सात बाध बनाने का प्रस्ताव था। दामोदर नदी पर एय्यर एवं पंचेत, बराकर नदी पर मैथन, बेल पहाड़ी तथा तिलैयुया, कोनार नदी पर कोनार, तथा बोकारो

नदी पर बोकारो बाँध बनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था। दामोदर घाटी निगम के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं: सिंचाई, जल-आपूर्ति तथा अपवाह की योजनाओं को बनाना तथा उनका कार्यान्वयन करना, जल विद्युत ऊर्जा का उत्पादन, संचरण एवं वितरण, बाढ़-नियंत्रण, दामोदर एवं उसकी सहायक नदियों में नौका-वाहन को प्रोत्साहन देना तथा उसका नियंत्रण, वनारोपण को प्रोत्साहन देना, भू-क्षरण का नियंत्रण, जन-स्वास्थ्य को प्रोत्साहन, कृषि, उद्‌योग आदि को प्रोत्साहित कर के दामोदर घाटी की सामान्य आर्थिक स्थिति में सुधार लाना आदि। इस प्रकार यह परियोजना बहूद्‌देशीय बन गई जिसके प्रमुख उद्‌देश्य थे: बाढ़ नियंत्रण, सिंचाई, जल-विद्युत ऊर्जा का उत्पादन एवं संचरण तथा दामोदर तथा उसकी सहायक नदियों में वर्ष भर नौका वाहन का प्रबन्ध करना। दामोदर घाटी निगम ने सात बांधों के स्थान पर केवल चार बाँध बनाये हैं। ये चारों बाँध तिलैयया, मैथन, कोनार तथा पंचेत हैं। चन्द्र पुरा, बोकारो तथा दुर्गापुर में तीन ताप बिजली -घर संचरण तथा वितरण के जाल समेत बन कर तैयार हो गये हैं। दामोदर घाटी में बने बाँधों की मुख्य विशेषतायें सारणी नं. 5.3 में प्रस्तुत हैं।

सारणी - 5.3

दामोदर घाटी के चार बांधों की प्रमुख विशेषतायें

विशेषताएं	तिलैयया	कोनार	मैथन	पंचेत
नदी	बराकर	कोनार	बराकर	दामोदर
बाँध का प्रकार	कंक्रीट	मिट्टी का बाँध परन्तु अधिप्लव मार्ग कंक्रीट का	मिट्टी का बाँध परन्तु अधिप्लव मार्ग कंक्रीट का	मिट्टी का बाँध परन्तु अधिप्लव मार्ग कंक्रीट का
लम्बाई (मीटर में)	366	3549	994	2545
नदी तल से अधिकतम ऊँचाई (मीटर में)	30	49	49	49
कुल क्षमता (दस लाख)	395	337	1357	1497
वास्तविक क्षमता (दस लाख घन मीटरों में)	321	276	—	1307
आरम्भ करने का वर्ष	1950	1950	1951	1952
पूरा होने का वर्ष	1953	1955	1958	1959

विभिन्न बाँधों से प्रस्तावित जल विद्युत उत्पादन क्षमता 260,000 किलोवाट है। बोकारो, चन्द्रपुरा एवं दुर्गापुर ताप-बिजली घरों से 1545 मेगावाट अतिरिक्त बिजली पैदा की जा रही है।

दुर्गापुर बैराज रानीगंज से 23 किलोमीटर दूर स्थित है तथा इसे सिंचाई के लिए एक जलाशय बनाने हेतु निर्मित किया गया। यह बैराज 831 मीटर लम्बा तथा लगभग 12 मीटर ऊँचा है। यह कोनार, तिलैय्या, मैथन, तथा पंचेत बाँधों से निकाले पानी को रोकता है। पानी की अधिक मात्रा पंचेत तथा मैथन से प्राप्त होती है। इस जल को बाकुड़ा, बर्द्धमान, हुगली, हावड़ा जिलों में लगभग 5000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में नहरों के जाल द्वारा पहुंचाया जाता है। यह बैराज 1955 में बन कर तैयार हो गया था। बर्द्धमान एवं हुगली जिलों में बायें किनारे के साथ–साथ लगभग 4 लाख हेक्टेयर भूमि पर सिंचाई की जाती है। बिहार में पहाड़ी तथा कटा फटा धरातल होने के कारण सिंचित क्षेत्र की मात्रा बहुत सीमित है।

बायें किनारे की दामोदर नहर नौका-वाहन एवं सिंचाई दोनों उद्‌देश्यों की पूर्ति करती है तथा कलकत्ता को दामोदर घाटी के कोयले क्षेत्र से मिलाती है।

भू-संरक्षण एवं वनारोपण

दामोदर घाटी में भारी चीका मिट्टी एवं दोमट मिट्टी पाई जाती है। निचले क्षेत्रों और कोयला–स्तरों पर ये मिट्टियाँ गहरी तथा भारी एवं पठारों पर हल्की, खुरदरी तथा उथली हैं। बिहार के छोटानागपुर क्षेत्र की ऊपरी दामोदर बेसिन में मिट्टी की उर्वरता कम है। धरातल ऊँचा-नीचा है तथा सिंचाई की व्यवस्था नहीं है। जनसंख्या अधिक नहीं है परन्तु कृषि-योग्य भूमि के सीमित होने के कारण प्रति व्यक्ति भूमि का अनुपात बहुत कम है कोयला खनन, कोयला स्तरों के ऊपर से हटाया गया मलबे का ढेर, खनन बस्तियां, परिवहन साधनों का सघन जाल, सघन वनावरण तथा विलुप्त अपवाह तंत्र आदि कृषि कार्य में बाधक हैं। कृषि संसाधनों की अपेक्षा यहाँ वन संसाधन अधिक समृद्ध है। यहाँ बहुत अच्छे साल के वन पाये जाते हैं। पहाड़ियों के ऊँचे ढालों पर वनस्पति कम है। यहाँ ताड़, बेर, सबाई घास, बांस तथा कंटीली झाड़ियां पाई जाती हैं।

दामोदर घाटी में की जाने वाली कृषि, छोटा–नागपुर क्षेत्र के अन्य भागों में की जाने वाली कृषि से भिन्न नहीं है। एक वर्ष में प्रायः एक फसल ही पैदा की जाती है। निचले भागों में बोया जाने वाला चावल, मक्का, दालें तथा रागी यहां की प्रमुख फसलें हैं।

दामोदर घाटी निगम को मृदा-संरक्षण एवं वनारोपण की जिम्मेदारी भी दी गई है। मृदा-संरक्षण एवं वनारोपण का मुख्य उद्‌देश्य नदी के जल-ग्रहण क्षेत्र में मृदा अपरदन को रोक कर जलाशयों को गाद-मुक्त करना है। मृदा–अपरदन की समस्या का समाधान जल-विभाजकों के आधार पर किया जा रहा है। मृदा संरक्षण के लिए किए गये प्रयासों में मिट्टी के भौतिक तथा रासायनिक गुणों, ढाल की तीव्रता, अपरदन के विस्तार, वर्तमान भू-उपयोग, तथा सिंचाई की उपयुक्तता के लिए सर्वेक्षण किये गये हैं। मृदा–उर्वरकता की परख करके भूमि-प्रबन्ध के लिए प्रदर्शन भी किए जा रहे हैं, जिससे लोग इन उपायों को अपना सकें।

दामोदर घाटी में वनारोपण की जिम्मेदारी निगम के वन विभाग पर है। साथ ही साथ बिहार तथा पश्चिम बंगाल की राज्य सरकारों के वन विभाग भी इस ओर प्रयासरत हैं।

खनिज संसाधन

दामोदर घाटी भारत का एक खनिज-समृद्ध क्षेत्र है। घाटी की गोंडवाना अवसादी चट्टानों में कोयले के भण्डार हैं। भारत की सबसे समृद्ध, बड़ी एवं सब से उत्पादक खानें इसी क्षेत्र में पाई जाती हैं। झरिया तथा चन्द्रपुरा कोयले की खाने धनबाद जिले में स्थित हैं। झरिया यहाँ की सबसे महत्वपूर्ण खान है जिसमें 1862 करोड़ टन उच्च कोटि के विटुयूमिनस कोयले के भण्डार हैं। यह कोयला क्षेत्र 440 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर फैला हुआ है। चन्द्रपुरा धनबाद जिले की दूसरी महत्वपूर्ण कोयले की खान है। यहाँ का कोयला चन्द्रपुरा ताप-बिजली घर के लिए उपयोग किया जाता है। पूर्वी तथा पश्चिमी बोकारो, गिरीडीह, उत्तरी तथा दक्षिणी करनपुरा तथा रामगढ़ कोयले की खानें हजारी बाग जिले में स्थित हैं। पूर्वी बोकारो खान की गरगाली संस्तर की मोटाई 30 मीटर है। करनपुरा कोयले की खान 1560 वर्ग किलोमीटर पर विस्तृत है तथा उत्पादन में झरिया तथा रानीगंज के पश्चात इसका स्थान है। रानीगंज कोयले की खान 1067 वर्ग किलोमीटर पर विस्तृत है। इसका विस्तार पश्चिम बंगाल के बर्द्धमान, पुरूलिया तथा बांकुड़ा जिलों में पाया जाता है। रानीगंज से पर्याप्त मात्रा में कोयला बन्डेल, दुर्गापुर तथा न्यू-काशीपुर के ताप-बिजली घरों में उपयोग में लाया जाता है।

क्ले, ग्रेफाइट, चूना-पत्थर, क्वार्ट्ज, अभ्रक, तांबा, तथा मैंगनीज आदि अन्य खनिज भी दामोदर घाटी में पाये जाते हैं। इस के अतिरिक्त, इसके आसपास के क्षेत्रों में भी खनिजों के भंडार पाये जाते हैं। दामोदर घाटी में विशाल वन सम्पदा पाई जाती है। इन से लाख तथा कागज बनाने के लिए घास प्राप्त की जाती है।

खनिज एवं वन संसाधन तथा जल–विद्युत ऊर्जा ही दामोदर घाटी के आर्थिक विकास के आधार रहे हैं।

परिवहन साधनों का विकास

परिवहन प्रादेशिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह लोगों एवं विभिन्न पदार्थों के स्थानान्तरण को सुलभ बनाता है। दामोदर घाटी के निचले भाग में रेलमार्गों का सघन जाल है जहाँ पर रेल मार्ग उत्तर, उत्तर-पश्चिम, पश्चिम, दक्षिण–पश्चिम तथा पूर्व से आकर मिलते हैं। इसकी अवस्थिति कलकत्ता के निकट है जो देश का एक महत्वपूर्ण पत्तन है। धनबाद रेल एवं सड़क मार्गों का अभिसरण बिन्दु है। दिल्ली-कलकत्ता को मिलाने वाला रेल मार्ग दामोदर घाटी के उत्तरी भाग से गुजरता है। यह रेलमार्ग अब पूर्णतः विद्युतीकृत है। इस के अतिरिक्त छोटी दूरियों को जोड़ने वाले बहुत से रेल मार्ग इस क्षेत्र में बनाये गये हैं। आसनसोल के पश्चिम की ओर से बहुत से रेल मार्ग गुजरते हैं। अजय तथा दामोदर नदियों का जल विभाजक बहुत ऊँचा नहीं है अतः पटना को जाने वाला रेलमार्ग इसी के साथ गुजरता है तथा इसी से एक रेल मार्ग गिरीडीह को जोड़ता है। कलकत्ता–आसनसोल को गया–पटना से जोड़ने वाला रेल मार्ग ऊपरी बराकर घाटी से गुजरता है।

एक रेल मार्ग डेहरी-आन-सोन से डाल्टनगंज होता हुआ कोयले की खानों के साथ साथ बनाया गया है। इसकी एक शाखा मुरी होकर जमशेद्पुर को जोड़ती है। रांची के खड़ी ढाल वाले पठार के पीछे हटने से जो अन्तराल बना है उसी से होकर जमशेद्पुर के लिए रेलमार्ग बनाये गये हैं। दामोदर घाटी का पश्चिमी भाग पहाड़ी, वनों से ढका हुआ तथा विरल जनसंख्या वाला है। अतः यह एक अविकसित ग्रामीण क्षेत्र जैसा दिखाई पड़ता है जबकि इसके पूर्वी भाग में आर्थिक विकास हुआ है।

इस क्षेत्र में रेलमार्गों के पूरक के रूप में सड़क मार्ग बनाये गये हैं। ऐसे बीहड़ धरातल पर जहाँ रेलमार्ग नहीं बनाये जा सकते सड़क मार्गों को विकसित किया गया है। इस क्षेत्र के धनबाद खण्ड में शेरशाह सूरी मार्ग मुख्य रेलमार्ग के समानान्तर है। औद्योगिक नगरों, कोयले की खानों तथा कोयला धोने के कारखानों को स्थानीय सड़कों द्वारा जोड़ा गया है। परिवहन के विकास ने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में ही नहीं वरन् इस क्षेत्र को राष्ट्रीय बाज़ार से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

औद्योगिक विकास

दामोदर घाटी में खनिजों पर आधारित एक औद्योगिक भू-दृश्या वली का आविर्भाव हुआ है। देश के औद्योगिक विकास में इस क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यहाँ के प्राकृतिक संसाधन औद्योगिक विकास के मेरूदण्ड हैं। ऊर्जा एवं अन्य सुविधाओं के विकास से औद्योगिक विकास को गति मिली। कई सार्वजनिक क्षेत्रों के संस्थानों की स्थापना की गई। दुर्गापुर तथा बोकारों के इस्पात संकुल, रांची के भारी मशीन-औजार उद्योग, सिंदरी का उर्वरक संयंत्र, हजारीबाग़ के निकट इण्डियन एक्सप्लोसिव्स, आदि कुछ सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों के उदाहरण हैं। दामोदर घाटी क्षेत्र में 6 औद्योगिक संकुलों का विकास हुआ है।

(1) दुर्गापुर औद्योगिक संकुल जिसमें ताप बिजली संयंत्र, कोक भट्टी, लोह-इस्पात, खनन मशीनरी, सीमेन्ट मशीनरी तथा विद्युत-उद्योग विकसित हुए हैं।

(2) आसनसोल- कुल्टी- बर्नपुर औद्योगिक संकुल जिसमें बर्नपुर का इस्पात कारखाना, चितरंजन रेल के इंजनों का कारखाना, कुल्टी फाउन्ड्री कारखाना, कुमार धुबी पर अभियान्त्रिकी का कारखाना तथा जे. के.नगर में अल्यूमीनियम का कारखाना लगाया गया
है।

(3) धनबाद-सिन्दरी-झरिया औद्योगिक संकुल जिसमें सिन्दरी का उर्वरक कारखाना, रसायन तथा कोयले पर आधारित उद्योग विकसित हुए हैं।

(4) बोकारो औद्योगिक क्षेत्र जिसमें इस्पात का बोकारो तथा चन्द्रपुरा के ताप-बिजली घर, तथा कोयला धोने के कारखाने मुख्य हैं।

(5) रामगढ़-पतरातू क्षेत्र जिसके अन्तर्गत इन्डियन एक्सप्लोसिव्स तथा ताप-बिजली संयत्र हैं।

(6) रांची का औद्योगिक संकुल जहाँ हिन्दुस्तान इलेक्ट्रिकल कारपोरेशन, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स तथा फाउंड्री संयत्र स्थापित किए गये हैं।

दामोदर घाटी के विभिन्न जिलों के कार्यरत जनसंख्या की संरचना से ही खनन क्रिया के महत्व का पता चलता है। गिरिडीह में मुख्य

कार्यरत जनसंख्या का 8.7 प्रतिशत, धनबाद में 4.8 प्रतिशत हज़ारी बाग में 9.8 प्रतिशत, तथा संथाल परगना में 6.3 प्रतिशत खनन में संलग्न है। धनबाद में 16 प्रतिशत मुख्य कार्यरत जनसंख्या गृह उद्योगों के अतिरिक्त उद्‌योग धन्धों में कार्यरत है।

जल-विद्युत ऊर्जा के उपलब्ध होने तथा ताप बिजली घरों की स्थापना से प्राप्त ऊर्जा के कारण अधिक ऊर्जा उपयोग करने वाले उद्योगों का विकास होने की सम्भावना है। इस्पात-संयंत्र, कोयले धोने के कारखाने, कोयले के उत्पादों पर आधारित उद्‌योग, वनों पर आधारित उद्‌योग इस क्षेत्र को एक बड़ा औद्‌योगिक क्षेत्र बनायेंगे।

मानव

दामोदर घाटी की जनसंख्या के घनत्व में बड़ी विभिन्नता पाई जाती है। जबकि ऊपरी घाटी में पहाड़ी एवं वनाच्छादित धरातल होने के कारण जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है, घाटी का निचला भाग घना बसा हुआ है तथा यहाँ नगरीकरण भी अधिक है। औद्‌योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रियाओं में घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः जिन जिलों में औद्‌योगीकरण अधिक हुआ है, उन्हीं में नगरीकरण भी अधिक हुआ है कुल जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या का अनुपात दिखाने वाले 1981 के आंकड़ों से यह तथ्य स्पष्ट है। धनबाद में 50.6 प्रतिशत जनसंख्या नगरीय है। इसके पश्चात् सिंहभूम (32.06 प्रतिशत) तथा बर्द्धमान (29.4 प्रतिशत) का स्थान है। संथाल परगना (6.9 प्रतिशत) तथा बांकुड़ा (7.6 प्रतिशत) में नगरीय जनसंख्या का अंश बहुत कम है।

दामोदर घाटी के अधिकांश भाग में, विशेषतः जो भाग छोटा नागपुर में सम्मिलित है, जनजातीय जनसंख्या का अनुपात अधिक है। विकास का अपना स्वयं का राजनैतिक अर्थ तंत्र होता है। यह प्रत्येक वर्ग को एक प्रकार लाभान्वित नहीं करता। विकास के कारण सामाजिक तनाव भी बढ़ता है। और इस क्षेत्र के समाज-विरोधी तत्वों की हरकतों के विषय में प्रायः टिप्पणियाँ पढ़ने को मिलती हैं। विकास के लाभों को संस्थागत हस्तक्षेप द्वारा सभी वर्गों तक पहुंचाने की व्यवस्था करनी होगी तथा समाज के कमजोर एवं शोषित वर्गों को उन के अपने संगठनों का विकास कर के सामाजिक सुरक्षा प्रदान करनी पड़ेगी।

समस्याएं

जिस उद्‌देश्य से दामोदर घाटी परियोजना चलाई गई थी वह थी बाढ़ नियंत्रण। यह परियोजना इस क्षेत्र से बाढ़ को पूरी तरह समाप्त करने में सफल नहीं हुई हैं। वुरडुइन द्वारा प्रस्तावित- सात बांधों की जगह, दामोदर घाटी निगम ने चार बांध बनाये हैं। 1959, 1970-1971, तथा 1978 में यह क्षेत्र बाढ़ की लपेट में आ चुका है, यद्यपि कि इन की भयंकरता में कमी अवश्य आ गई है। घाटी के ऊपरी भाग में घनी वनस्पति का आवरण मानसूनी वर्षा के समय पानी के प्रवाह को नियंत्रित रखता है। बांध तथा जलाशय दूसरे स्तर को सुरक्षा प्रदान करते हैं। वनों का अत्यधिक शोषण तथा उसी मात्रा में वनारोपण का न होना, जलाशयों में गाद की मात्रा को बढ़ावा देता है। यही कारण है कि जल-विद्युत ऊर्जा उत्पादन के पूरक के रूप में ताप-विद्युत का उत्पादन बढ़ाया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट है कि

बाढ़ को नियंत्रित करने वाले बांधों पर जल विद्युत उत्पादन के लिए निर्भर नहीं रहा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक वर्ष मानसून के पहले जलाशयों को खाली कर के वर्षा के पानी के लिए जगह बनाई जाती है। तथापि दामोदर घाटी निगम समन्वित प्रादेशिक विकास का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। अधिक दूरदर्शिता एवं उत्तम प्रबन्ध से इस की क्षमता को अवश्य बढ़ाया जा सकता है।

2. एक जनजातीय विकास खण्ड — बस्तर

भारत में बहुसामुदायिक समाज पाया जाता है। यहाँ कई समुदायों का सह-अस्तित्व है। इन समुदायों में से कुछ देश के विभिन्न भागो के पर्वतों एवं वनों में भिन्न-भिन्न संख्या में बसे हुए हैं जिन्हें जनजातियों की संज्ञा दी गई है। जनजाति की परिभाषा करना कठिन है। परन्तु जनजातियों को अजनजातियों से उन की विशेषताओं जैसे उनके निवास, सास्कृतिक लक्षणों जैसे भाषा, विश्वास, रीति-रिवाज तथा संस्थाओं के आधार पर पृथक किया जा सकता है। 1981 में भारत की कुल जनसंख्या का 7.5 प्रतिशत जनजातिया थीं। भौगोलिक दृष्टिकोण से उनकी जनसंख्या देश के विभिन्न भागों में बिखरी हुई पाई जाती है परन्तु तीन पट्टियों में इनका संकेन्द्रण देखा जा सकता है। वे हैं, उत्तरी-पूर्वी पर्वतीय एवं वनाच्छादित क्षेत्र, पूर्व से पश्चिम की ओर विस्तृत मध्य भारत के पर्वतीय एवं वन-क्षेत्र तथा द्वीपीय श्रृंखलाए विशेषतः अन्डमान एवं निकोबार द्वीप।

जन जातीय समुदाय अजनजातीय समुदायों से कई प्रकार से भिन्न होते हैं। यद्यपि कि जनजाति समुदायों में भी कई प्रकार के परिवर्तन आ रहे हैं परन्तु फिर भी कुछ भेद अभी भी पाये जाते हैं। जनजातीय समुदाय में प्रायः उत्पादन के साधनों पर सामुदायित्व स्वामित्व पाया जाता है। अतः जनजातीय समुदायों में सामाजिक तथा आर्थिक विषमताएँ उतनी तीव्र नहीं होती जितनी अजनजातीय समुदायों में। जनजातीय समुदायों में प्रौद्योगिकी का स्तर बहुत निम्न होता है। वे अपने निकटतम पर्यावरण पर निर्भर होते हैं जिससे उस के सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण होते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में भी बाहय प्रभाव पहुँच रहे हैं परन्तु विकास नीति लोगों को विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार अपनाई जानी चाहिए। केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने जनजातियों की सामाजिक एवं आर्थिक दशा को सुधारने के लिए विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कई कार्यक्रम चलाए हैं परन्तु यह ध्यान रखा गया है कि इनके सास्कृतिक आचारतत्व को आघात न पहुंचे।

जनजातीय विकास खण्ड परियोजना विकास खण्ड के स्तर पर विकास की एक युक्ति है। ग्रामीण क्षेत्रों के एस.एफ.डी.ए.[1] एवं एम.एफ.ए.एल.ए.[2] परियोजनाओं के मॉडल पर ही जनजातीय विकास खण्ड परियोजना की रचना की गई थी। 1971-72 छः ऐसी पाइलट परियोजनाएँ प्रायोगिक आधार पर लागू की गई। ये परियोजनाएँ आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम, बिहार के सिंहभूम, मध्य प्रदेश के बस्तर जिले की दांतेवाड़ा एवं कोंटा तहसीलों एवं उड़ीसा के गंजम एवं कोरापुट जिलों में प्रारम्भ की गई थी। इन परियोजनाओं का अधिकार क्षेत्र

1. एस.एफ.डी.ए.— लघु किसान विकास एजेन्सी
2. एम.एफ. ए.एल.ए.— सीमान्त किसान एवं कृषि मजदूर एजेन्सी

केवल चुने गये उन विकास खण्डों तक ही सीमित थां जिनमें जनजातीय जनसंख्या का संकेद्रण अधिक है। जनजातीय विकास एजेन्सी का प्रयास इन विकास-खण्डों में सुविधाओं के विकास करने की ओर अधिक था जैसे भूमि विकास, सिंचाई के साधन, परिवहन एवं संचार, ऋण एवं विपणन आदि का विकास। इसके अन्तर्गत संभाव्य वृद्धि केन्द्रों की अवस्थिति एवं विकास का प्रयास भी किया गया था।

मध्य प्रदेश के बस्तर जिले का बस्तर विकास खण्ड एक विशिष्ट जनजातीय विकास खण्ड का प्रतिनिधित्व करता है जिस में जनजातीय जनसंख्या अधिक है। बस्तर जिले की कुल जनसंख्या में से लगभग 65 प्रतिशत से अधिक जनजातीय जनसंख्या है। इसमें से कुछ जन जातियाँ एक विशिष्ट भूभाग पर ही पाई जाती हैं।

भौतिक पृष्ठभूमि

अवस्थिति एवं स्थानिक सम्बन्ध

बस्तर जिला मध्य प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी कोने में स्थित हैं। इसके पूर्व में उड़ीसा, पश्चिम में महाराष्ट्र तथा दक्षिण में आन्ध्र प्रदेश स्थित हैं। यह मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल से लगभग 640 किलोमीटर बंगाल की खाड़ी के आंध्र तट पर स्थित पत्तन विशाखापट्टनम् से 160 किलोमीटर तथा उत्तर में स्थित रायपुर-भिलाई औद्योगिक संकुल से 88 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह पूर्वी घाट के पृष्ठ-प्रदेश में स्थित होने के कारण सामुद्रिक प्रभाव से प्रायः वंचित रहता है। इस प्रकार इसकी अवस्थिति आन्तरिक हैं। आकार में यह भारत के बड़े जिलों में से एक है तथा क्षेत्रफल में केरल राज्य से बड़ा हैं। बस्तर जनजातीय विकास खण्ड 17^{0} से 20^{0} उत्तरी अक्षांश तथा 80^{0} से 82^{0} पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। जलवायु की दृष्टि से यह गर्म उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र में स्थित है जिसमें सघन बन पाये जाते हैं परन्तु मैदानी भाग बहुत कम हैं।

भू-आकृतिकी

बस्तर जिले का अधिकांश भाग एक पठार है जिसकी समुद्र तल से औसत ऊंचाई लगभग 600 मीटर है। इसके उत्तर की ओर महानदी तथा दक्षिण की ओर गोदावरी की नदी घटियाँ हैं जो संकरे मैदानी भाग का निर्माण करती हैं। इसका सामान्य धरातल पहाड़ी है। इन्द्रावती एवं सबरी गोदावरी की मुख्य सहायक नदियाँ हैं। इन्द्रावती प्रमुख नदी है जो जिले के मध्य से पश्चिम की ओर बहती है। सबरी बस्तर के दक्षिणी-पूर्वी सीमा रेखा के साथ-साथ बहती है । यद्यपि ये नदियाँ बहुत छोटी-छोटी हैं परन्तु सदावाहिनी हैं। इनमें मौसम के अनुसार पानी की मात्रा में उतार-चढ़ाव आता रहता है।

भू-आकृतिकी की दृष्टि से बस्तर को पाँच स्पष्ट भागों में बांटा जाता हैं :

(i) उत्तरी-महानदी मैदान का ढाल उत्तर की ओर है तथा यह दुर्ग एवं रायपुर जिलों के छत्तीसगढ़ मैदान से मिल जाता है। इसकी समुद्र तल से सामान्य ऊँचाई 300 तथा 450 मीटर के बीच पाई जाती है।

(ii) अबूझमार पहाड़ियाँ उच्च कटक एवं गहरी घाटी के धरातल के स्वरूप को प्रदर्शित करती हैं। यह बहुत ही विषम, कटा-फटा तथा तरंगित क्षेत्र हैं जिसको छोटी-छोटी नदियाँ

चारों ओर से काटती हुई बहती हैं। इस क्षेत्र का सामान्य धरातल समुद्र तल से 450 से 750 मीटर के बीच ऊंचा है। यहां की पहाड़ियों एवं घाटियों ने चारों ओर से बहुत ही प्रभावशाली भौतिक अवरोध उत्पन्न कर रखा है और इस प्रकार यहाँ की निःसंगता को और अधिक बढ़ावा मिला है।

(iii) उत्तरी-पूर्वी पठार के उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम में तीव्र खड़े ढाल हैं। इन्द्रावती नदी का मैदान इसके दक्षिण में स्थित है। इसकी समुद्रतल से सामान्य ऊँचाई 450 से 750 मीटर के बीच पाई जाती है।

(iv) दक्षिणी पठार के मध्य में बैलाडिला एवं टीकम पल्ली की पहाड़ियाँ स्थित हैं। दांतेवाड़ा का छोटा सा मैदान उत्तर की ओर स्थित हैं। बैलाडिला का अर्थ "बैल का कूबड़" है। यह बस्तर जिले की सबसे ऊँची पहाड़ी है। समुद्रतल से इसकी ऊँचाई लगभग 1,200 मीटर है। इसकी दो समानान्तर कटकें हैं जो अपनी ऊंचाई के कारण भौतिक अवरोध उत्पन्न करती हैं। दक्षिणी पठार की समुद्र तल से सामान्य ऊँचाई 300 से लेकर 750 मीटर से अधिक है।

(v) दक्षिण में गोदावरी एवं सबरी नदियों के मैदान की सामान्य ऊँचाई 150 से 300 मीटर है। यह एक तरंगित मैदान है जिसके दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम में दो पहाड़ियाँ हैं। ये दक्षिणी पठार के आधार तक विस्तृत हैं।

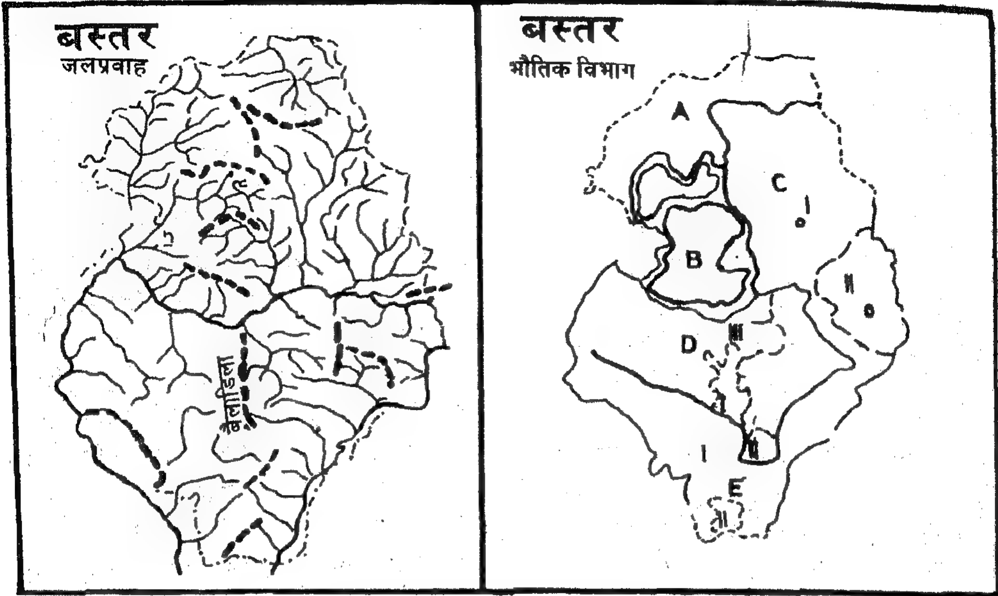
संसाधन आधार

बस्तर जिले में दो प्रमुख प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध हैं, वन एवं खनिज। कृषि-योग्य भूमि सीमित है। इस जिले में मिट्टी का आवरण पतला तथा उर्वरता का स्तर निम्न है। लाल तथा लेटेराइट मिट्टियों का विकास रूपान्तरित एवं ग्रेनाइट चट्टानों से हुआ है। निचले भागों में ही मिट्टी की गहराई अधिक है। ढालों पर इनकी गहराई अपरदन के कारण कम हो गई है। विभिन्न भागों में की जाने वाली स्थानान्तरी कृषि ने विशेषतः अबूझमार पहाड़ियों पर, वनस्पति के ह्रास एवं मृदा अपरदन को बढ़ावा दिया है। निम्न मैदानों एवं नदी घाटियों में कृषि ही लोगों का प्रमुख व्यवसाय है।

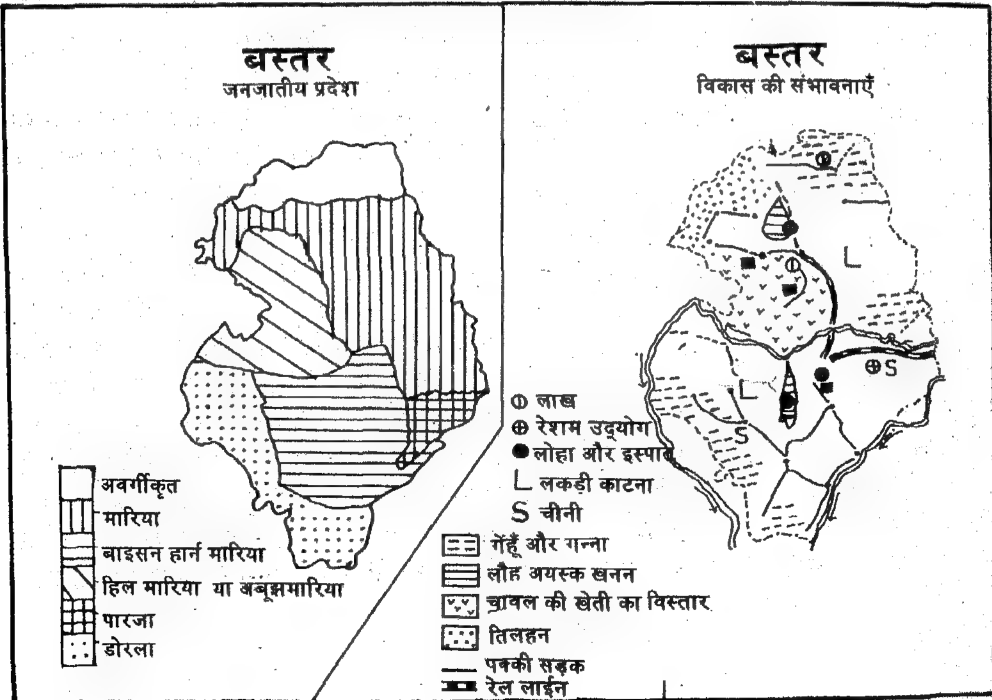
बस्तर में वन ही सबसे विस्तृत संसाधन हैं। ये मुख्यतः आर्द्र पर्णपाती वन हैं जिन में कठोर लकड़ी की बहुतायत है। इन वनों से प्राप्त लकड़ी का 80 प्रतिशत भाग सागौन या सागवान, साल तथा लॉरेल से पाया जाता है। वनों से बस्तर की जनजातियों को सुरक्षा के अतिरिक्त लकड़ी पर आधारित आर्थिक क्रियाएं करने का ठोस आर्थिक आधार भी मिला है। लकड़ी के अतिरिक्त जनजातियों के लोग वनों से गोंद, पत्ते, फल, फूल तथा जड़ी बूटियाँ एकत्र करते हैं।

बस्तर खनिज विभव विशेषकर लौह अयस्क निक्षेपों में समृद्ध है। यहां तीन विस्तृत क्षेत्रों में लौह अयस्क के बड़े भण्डार हैं। ये हैं :

(i) नारायणपुर तहसील में रावघाट की पहाड़ियाँ (ii) दांतेवाड़ा तहसील में बैलाडिला की पहाड़िया तथा (iii) उत्तर पश्चिम की चारगांव - कोंडापाखा - हलीलद्दी पहाड़ियाँ। बैलाडिला श्रेणी दांतेवाड़ा तहसील की सीमा रेखा के साथ-साथ उत्तर से दक्षिण की ओर फेली है। यह 34 किलोमीटर तथा 10 किलोमीटर चौड़ी श्रेणी है जिसकी ऊँचाई 300 से 900 मीटर के बीच है। इस श्रेणी में अनुमानित लौह अयस्क की मात्रा 115.3 करोड़ टन है जिसमें 60 से 70 प्रतिशत



A. उत्तरी महानदी मैदान, B. अबूझमार पहाड़ियाँ, C.(i) उत्तरी-पूर्व पठार, (ii) इन्द्रावती मैदान, D. दक्षिण पठार, (i) बैलाडिला पहाड़ियाँ, (ii) टिकलपल्ली पहाड़ी, (iii) दांतेवारा मैदान, E. गोदावरी-साबरी निम्नभूमि.



चित्र 5.3 बस्तर

लौहांश पाया जाता है। इस क्षेत्र में लौह अयस्क का खनन किया जा रहा है। इसे विशाखापट्टनम् पत्तन से जोड़ दिया गया है जहाँ से लौह अयस्क का निर्यात् जापान को किया जाता है।

लौह अयस्क के अतिरिक्त बस्तर में चूना-पत्थर, बाक्साइट, मैंगनीज, चीका मिट्टी कांच बनाने का बालू तथा इमारती पत्थर पाये जाते हैं। इनमें से बहुत से खनिज संसाधनों का विदोहन नहीं किया जा रहा है क्योंकि यहां प्रौद्योगिकी का स्तर बहुत निम्न हैं तथा जनजाति लोगों में आधुनिक कौशल की कमी है।

पर्यावरण तथा मानव - अन्तः क्रिया

बस्तर जिले की जनसंख्या के वितरण तथा मानवीय क्रियाकलापों पर यहां के पर्यावरण की स्पष्ट छाप है। निम्न भू-भागों में जहां कृषि के अवसर अपेक्षतया अधिक हैं, जनसंख्या का घनत्व अधिक है। ऊपरी भागों पर बन पाये जाते हैं परन्तु अपने पहाड़ी तथा ऊबड़-खाबड़ धरातल के होते हुए भी ऊपरी भागों के कुछ क्षेत्र मानव के क्रिया कलापों से अछूते नहीं रह पाये। दक्षिणी पठारी भाग से कृषि के विस्तार हेतु वन साफ कर दिये गये हैं। अबूझमारिया जनजाति के लोग ऊपरी पहाड़ी ढालों की पादस्थली में अपने अधिवास बनाते हैं क्योंकि, पहाड़ी ढालों पर घाटी की अपेक्षा हवा अधिक तीव्रता से बहती है। इन स्थलों से वन निकट हैं, अधिवासों के चारों ओर पानी एकत्रित नहीं होता तथा साथ ही साथ यहां इन्हें जल-स्रोत भी उपलब्ध है। यहां की धरातलीय संरचना के कारण भूमिगत जल उपलब्ध नहीं है। इसलिए पहाड़ी ढालों पर कुआँ खोदना कठिन है। अतः केवल तालाब ही पानी एकत्रित करने तथा संरक्षित रखने के साधन हैं। ऊँची पहाड़ियाँ एवं खड़े ढाल सड़क बनाने के लिए उपयुक्त दशाएं नहीं प्रस्तुत करते। इसके अतिरिक्त सड़कों के निर्माण तथा उनके रख-रखाव में बहुत लागत आती है। यहां सड़कें पठारी खड़े ढालों एवं पहाड़ी दर्रों के तंग अन्तरालों से हो कर आती हैं। परिवहन जल के विकास के निम्न स्तर के कारण भी यहाँ अपेक्षतया निःसंगता अधिक है।

बस्तर की जलवायु गर्म उष्णकटिबन्धीय मानसून प्रकार की है जिसमें वार्षिक औसत तापक्रम 24.5° सेल्सियस तथा वार्षिक औसत वर्षा लगभग 120सेन्टीमीटर पाई जाती है। यहां ग्रीष्म ऋतु गर्म तथा शुष्क होती है। अन्य ऋतुएँ वर्षा ऋतु एव शुष्क शीत ऋतु हैं। जलवायु दशाओं में प्रादेशिक विभिन्नता अधिक नहीं पाई जाती परन्तु कुछ भागों जैसे दक्षिण-पश्चिम एवं उत्तर-पश्चिम में वर्षा अधिक होती है। ऋतुवत् विभिन्नताएँ अधिक तीव्र हैं। कृषि अधिकांशतः वर्षा पर आधारित है। अतः लगभग 90प्रतिशत शुद्ध कृषित भूमि केवल खरीफ में बोई जाती है। वर्षा काल में फसलों के बढ़ने के लिए मिट्टी में आर्द्रता पाई जाती है। सिंचाई के साधनों की कमी के कारण रबी की फसलों का क्षेत्रफल सीमित हैं। दक्षिणी गोदावरी निम्न भूमि में शीत काल में तापक्रम अपेक्षतया ऊँचा रहता है अतः यहां ज्वार की फसल खरीफ तथा रबी दोनों ऋतुओं में बोई जाती है। वर्षा ऋतु में चारे की बहुतायत रहती है और जनजाति लोग पशु-पालन करते हैं। जलाशयों में मछली पकड़ने का काम भी किया जाता है।

बस्तर में जनसंख्या का संकेन्द्रण या तो

निचली भूमियों, मैदानों या चारों ओर पहाड़ियों से घिरे बेसिन के आकृति के क्षेत्रों में है क्योंकि इन क्षेत्रों में लोगों को प्राकृतिक सुरक्षा उपलब्ध है। पहाड़ियाँ एवं वन जनसंख्या विहीन हैं। कठिन धरातल द्वारा उत्पन्न की गई भौतिक निसंगता के कारण विभिन्न जन-जाति समूह अलग-अलग क्षेत्रों में अपने-अपने संसार में रहते हैं। यही कारण है कि उनके अपने भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज, विश्वास एवं कर्मकांड आदि विकसित हो गये हैं। प्रत्येक समूह अपनी पहचान बनाए रखना चाहता है तथा अपनी जीवन पद्धति के अनुसार ही जीना चाहता है।

यहां की जनसंख्या अधिकांशतः ग्रामीण है जो वनों के छोटे-छोटे टुकड़ों को साफ कर के छोटे-छोटे पल्ली-ग्रामों में रहती हैं। जनसंख्या का अधिक घनत्व महानदी बेसिन (कांकेर तहसील), इन्द्रावती बेसिन (जगदलपुर), कोटरी मैदान (भानुप्रतापपुर), दांतेवाड़ा मैदान (उत्तरी दांतेवाड़ा) तथा सबरी मैदान (उत्तरी कोंटा) में पाया जाता है। जनसंख्या का घनत्व कोंडागांव (उत्तरी पूर्वी पठार) तथा दक्षिणी दांतेवाड़ा में भी अधिक है क्योंकि ये एकाकी बेसिन है जहां जन-जाति समूह सबसे अलग थलग रहते हैं।

बस्तर की जनजातीय जनसंख्या समजातीय नहीं है। संख्या की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण जनजातीय समूह सात निःसंगत खण्डों में संक्रेन्द्रित हैं। ये सातों प्रमुख सांस्कृतिक उप-भाग एक दूसरे से गृह-प्रकार, खान-पान, वस्त्र, विश्वास, भाषा, रीति-रिवाज तथा उत्पादन-प्रकम में उपयोग किए जाने वाले उपकरणों की दृष्टि से भिन्न हैं।

अबूझमारियो का क्षेत्र सबसे दूरस्थ एवं ऊबड़-खाबड़ है। "अबूझमार" का अर्थ है। "अज्ञात पर्वतीय क्षेत्र"। ये पर्वतीय क्षेत्र बस्तर जिले के मध्य में स्थित हैं। धरातल के कटे-फटे होने, मिट्टी की गहराई कम होने तथा संसाधन सम्पन्न न होने के कारण यह जनजाति समूह आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। इनका सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध रहा है और वे इस वर्तमान शताब्दी में भी "पाषाण युग की संस्कृति" से आगे नहीं बढ़ पाये। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति, ये स्थानीय उत्पादों से करते हैं तथा इनके पास अधिक भौतिक वस्तुयें नहीं होतीं।

ये अपना निर्वाह स्थानान्तरी कृषि (पेंडा) पर करते हैं। वे हल अथवा अन्य कृषि उपकरणों का उपयोग नहीं करते। वे उच्च भूमियों की कम गहरी तथा अनुपजाऊ मिट्टी पर फसलें उगाते हैं और बार-बार फसल उगाने के स्थान को स्थानान्तरित करते रहते हैं क्योंकि मिट्टी का बढ़ता हुआ अनुपजाऊपन बहुत समय तक इनका निर्वाह नहीं कर पाता। इन की आवश्यकतायें थोड़ी तथा जनसंख्या का घनत्व कम है। अतः उन्हें आधुनिक विकास जैसे सड़क, बाजार तथा अन्य सुविधाओं की चाह नहीं है। वे डिस्पेन्सरी, मुर्गीपालन एवं गाँवों तक पहुँचने के रास्तों की योजनाओं को अपनाने के लिए सामान्यतः तैयार हैं। यहां पर परिवर्तन को अपनाने में सांस्कृतिक गतिरोध है तथा इस परिवर्तनों को अपनाने में पर्याप्त समय लगेगा।

मारिया जनजाति क्षेत्र बस्तर जिले का बड़ा जनजाति क्षेत्र है। उत्तरी-पूर्वी पठार तथा उसके संलग्न क्षेत्र पर इसका विस्तार है। इनका प्रमुख व्यवसाय जीविकोपार्जी कृषि है। वे चावल, ज्वार-

बाजरा पैदा करते हैं। मोटे अनाजों में कोसरा एक महत्त्वपूर्ण अनाज है। अपने आस-पास के वनों से वे विभिन्न वनोत्पाद भी एकत्रित करते हैं। मध्य जगदलपुर एवं दक्षिणी कोंडागांव तहसील में रहने वाले मारिया सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक विकसित हैं। वे "राजमारिया" के नाम से जाने जाते हैं। इन जन-जातियों में तीव्रता से पविर्तन आ रहा है। वे बाजार की अर्थ-व्यवस्था से अधिक प्रभावित हैं तथा कपड़े, बर्तन तथा गहनों के लिए उनकी मांग बढ़ी हैं।

भाटरा जनजाति क्षेत्र : वस्तुतः समतल मैदानी क्षेत्र है। इसकी मिट्टी अधिक उपजाऊ है तथा परिवहन के साधन अधिक विकसित हैं। ये नवोन्मेषों एवं परिवर्तनों को तीव्रता से अपना रहे हैं और यही कारण है कि इनके सांस्कृतिक विकास का स्तर ऊँचा है। कृषि इनका मुख्य व्यवसाय है तथा ये चावल तिलहन एवं गन्ना पैदा करते हैं। बस्तर के जिला मुख्यालय, जगदल पुर के निकट बसे होने के कारण भी इनकी जीवन-पद्धति पर प्रभाव पड़ा है।

दोरला जनजाति क्षेत्र : आन्ध्र प्रदेश की सीमा रेखा के साथ स्थित गोदावरी-सबरी में पाया जाता है। ये भाटरा जन-जाति समूह की ही भांति सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक विकसित हैं। इन्होंने नारियल के तेल का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया है जिसे वे बाजार से खरीदते हैं। ये तिलहन की खेती नहीं करते वरन् वनों से महुआ का बीज एकत्रित करते हैं जिससे तेल प्राप्त करते हैं।

धुवा (परजा) जन-जातीय क्षेत्र : जगदल पुर तहसील के दक्षिणी भाग में उत्तरी पूर्वी पठार तथा सबरी के मैदान के मध्य स्थित हैं। कठिन धरातलीय बनावट तथा घने वनों के कारण परिवहन में अवरोध पाया जाता हैं। भाटरा एवं मारिया जन-जातीय समूहों की तुलना में ये सांस्कृतिक दृष्टि से कम विकसित हैं। इन्होंने बाँस के उत्पाद बनाने में उच्च-स्तर का कौशल प्राप्त किया है।

गौर या बाइसन के सींग वाले मारिया जनजाति क्षेत्र : बस्तर जिले का एक पिछड़ा इलाका हैं ये लोग दांतेवाडा, पूर्व बीजापुर के कुछ भाग एवं कोंटा उत्तर तहसीलों में पाये जाते हैं। ये लोग नाचते समय बाइसन (भैंसे) के सींग अपने सरों पर बांध कर नाचते हैं, और इसीलिए इन्हें यह संज्ञा दी गई हैं। दांतेवाडा बेसिन का कुछ भाग मैदानी है तथा कुछ भाग पठारी है। ये लोग स्थानान्तरी कृषि नहीं करते परन्तु पहाड़ी ढालों एक प्रकार की चक्र-प्रणाली अपनाते हैं एवं घाटी में स्थायी कृषि करते हैं। किरिनदूल एवं विशाखापट्टनम् के बीच रेलमार्ग का निर्माण तथा बैलाडिला में लौह अयस्क का खनन् दो महत्वपूर्ण विकास कार्य इस क्षेत्र में हुए हैं।

एक अवर्गीकृत गोंड जनजातीय क्षेत्र : उत्तर में महानदी बेसिन में पाया जाता है जो कांकेर एवं भानु प्रतापपुर तहसीलों में विस्तृत है। यह छत्तीसगढ़ मैदान की सीमा के साथ स्थित है। तथा यहाँ परिवहन के उत्तम साधन् उपलब्ध हैं। इसके कारण बाहर से इनका सम्पर्क स्थापित हो गया है। इस क्षेत्र की पारगम्यता, निम्न धरातल तथा अच्छी मिट्टी के कारण यहाँ के सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास होने में सहायता मिली है। इस क्षेत्र की

मुख्य आर्थिक क्रिया कृषि है। चावल प्रमुख फसल है। कांकेर तथा भानुप्रतापपुर दो मुख्य नोडीय बिन्दु हैं जो रायपुर एवं जगदलपुर से जुड़े हुए हैं।

विकास का नियोजन

पंचवर्षीय योजना के आविर्भाव काल से ही बस्तर की ओर योजनाविदों का ध्यान आकर्षित हुआ था। 1956-57 में जनजातीय विकास खण्डों के गहन विकास के लिए दो विशेष बहुउद्देशीय जनजातीय विकास खण्डों की स्थापना बस्तर जिले में की गई थी। उन्हें ही तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत "जनजातीय विकास खण्ड" की संज्ञा दी गई। इस योजना प्रणाली के अन्तर्गत जनजातीय जीवन के प्रत्येक पक्ष समन्वित विकास के गहन कार्यक्रम को लागू करने की व्यवस्था थी। लक्ष्य-समूह के रूप में जन-जातियों के लोगों तथा लक्ष्य -क्षेत्र के रूप में जन-जाति क्षेत्रों की आवश्यकताएँ विशिष्ट होती हैं। अतः इन के लिए विधिवत् नियोजन की आवश्यकता होती है। जन-जातीय विकास खण्ड की संकल्पना के अन्तर्गत मृदा-सरक्षण, वनारोपण, समाज कल्याण, शिक्षा, स्वास्थ्य, सहकारिता तथा परिवहन एवं संचार वाहन के साधनों के विकास पर बल दिया गया। इस कार्यक्रम का क्रियान्वयन जिला अधिकारी, राज्य सरकार के जन जातीय कल्याण विभाग के निर्देश के अन्तर्गत करता है।

बैलाडिला लौह-अयस्क के खनन एवं रेलमार्ग तथा सड़क मार्गों के जाल के विकास के साथ साथ ही बस्तर की अर्थ व्यवस्था, जो अब तक एक संवृत्त अर्थ-व्यवस्था थी, विवृत्त अर्थ-व्यवस्था बन रही है। कोई भी संवृत्त अर्थ-व्यवस्था जो वस्तु-विनियम प्रणाली पर आधारित होती है संगठित बाज़ार पर आधारित नहीं होती अतः अपने उत्पाद को बाजार तक पहुंचाने के लिए उसे परिवहन के साधनों की भी आवश्यकता नहीं होती। उत्पादन-विशिष्टीकरण के उपरान्त बाजार तथा परिवहन के साधनों, दोनों की ही आवश्यकता होती है क्योंकि ऐसी स्थिति में वस्तु-विनिमय के स्थान पर मुद्रा के माध्यम से सौदे किये जाते हैं।

ऐसा इंगित किया जा चुका है कि जनजाति वर्ग के लोग स्वास्थ्य सेवाओं का स्वागत करते हैं तथा उन्हें अपनाते हैं। उनके उपभोग-प्रारूप में भी कुछ परिवर्तन देखने को मिले हैं। दो आर्थिक क्रियाएँ जिन से जन-जाति के लोग परिचित है, वे हैं, कृषि एवं वानिकी। इन क्रियाओं को उपयुक्त कौशल एवं सुविधाओं के द्वारा सुदृढ़ बनाना आवश्यक है। विकास की प्रक्रिया बाहर से प्रारम्भ तो की जा सकती है परन्तु उसे आगे बढ़ाने का कार्य जनजाति समूह के लोगों को ही करना पड़ेगा।

जनजातीय विकास खण्ड से अपेक्षित लाभ नहीं हो पाया। शिलो आओ कमेटी के अनुसार विकास खण्ड किसी सार्थक नियोजन के लिए बहुत छोटी इकाई है। इसके साथ ही साथ विकास नियोजन खण्डित रहा है क्योंकि कुछ कार्यक्रम जो जनजातीय क्षेत्रों में लागू किये गये हैं वास्तव में विकसित समुदायों के लिए उपयुक्त थे। रोज़गार को विकसित करने वाले कार्यक्रमों को भली-भांति नहीं लागू किया गया। योजना बनाने में स्थानीय लोगों की सहभागिता नगण्य रही है तथा बने बनाये कार्यक्रम लागू किये गये जिनका प्रभाव बहुत कम पड़ा। इसके अतिरिक्त बस्तर जिले के

बहुत बड़े क्षेत्र का सर्वेक्षण अभी तक नहीं किया जा सका है। इसलिए क्षेत्र की पूर्ण क्षमता को आंकना कठिन है। भू-सम्पत्ति-मान चित्रण द्वारा भूमि-अभिलेखों को पूरा किया जाना चाहिए जिससे वर्तमान स्थिति का पता चल सके। राज्य विधान सभाओं द्वारा पारित भूमि सम्बन्धी कानूनों में जनजातियों के सामुदायिक स्वामित्व के कुछ प्रावधानों का समावेश किया जाना चाहिए जिससे जनजाति के लोगों की पृथकता न्यूनतम हो। जनजातीय क्षेत्रों को संरक्षण के साथ विवृत्त करना चाहिए जिससे दूसरे लोग अपने कौशल एवं उत्तम प्रौद्योगिकी की सहायता से इनका शोषण न कर सकें। दुर्भाग्यवश विकास की योजनायें इस प्रकार बनाई जाती हैं कि जनजातीय समुदाय उसे संदेह की दृष्टि से देखता है तथा उदासीन हो जाता है।

महानगरीय क्षेत्र

3. राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के दशकों में दिल्ली की जनसंख्या में बहुत तीव्र गति से वृद्धि हुई है। नई-दिल्ली भारत की राजधानी है तथा केन्द्र शासित प्रदेश, दिल्ली एक ऐसा प्रदेश है जिसका शासन केन्द्रीय सरकार के हाथ में है। दिल्ली प्रदेश बहुत अधिक आर्थिक अवसर प्रदान करता है। अतः दूर तथा निकट के बहुत से प्रवासी नौकरी की खोज में दिल्ली की ओर आकृष्ट होते हैं। दिल्ली का यही आकर्षण इसकी जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि का कारण बना। 1951-61, 1961-1971 तथा 1971-81 के दशकों में दिल्ली की जनसंख्या क्रमशः 64.2, 54.6 तथा 57.1 प्रतिशत की दर से बढ़ी है। 1971-81 के दशक में जनसंख्या वृद्धि दर से दृष्टिकोण से भारत के महानगरों में इसका बंगलौर तथा जयपुर के बाद तीसरा स्थान था। जनसंख्या की यह तीव्र वृद्धि सरकार तथा नगर-नियोजन के विशेषज्ञों के लिए चिन्ता का कारण बन गई है। दिल्ली को एक सुन्दर, स्वच्छ तथा स्वस्थ नगर बनाये रखने के लिए जनसंख्या की वृद्धि को रोकना ही पड़ेगा। इसकी जनसंख्या की वृद्धि को रोकने की कोई नीति उस क्षेत्र के संदर्भ में ही निर्धारित करनी पड़ेगी जिसमें दिल्ली स्थित हैं। दिल्ली के निकट के पृष्ठ प्रदेश जिसमें विकास को नियोजित करके इस पर जनसंख्या के दबाव को कम करने की योजना है, **राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र** कहलाता है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की संकल्पना का उद्भव 1959 में तैयार किये गये दिल्ली के मास्टर प्लान से हुआ जिसे 1962 में भारत सरकार ने स्वीकृति दी थी। उक्त मास्टर प्लान में एक राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र नियोजन बोर्ड के गठन का अनुमोदन किया गया था। सबसे पहले इस बोर्ड का गठन एक परामर्शदायी संस्था के रूप में किया गया था, परन्तु 1973 में इसका पुनर्गठन किया गया। इसका मुख्य कार्य राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों के विकास का बृहत् नियोजन तैयार करना तथा सम्बद्ध राज्य सरकारों से इसके क्रियान्वयन में ताल-मेल बैठाना था।

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का भौतिक विस्तार

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का विस्तार केन्द्र शासित क्षेत्र दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के संलग्न क्षेत्र में है। इस क्षेत्र में निम्नलिखित प्रशासनिक इकाईया सम्मिलित की गई है:

(i) केन्द्र शासित प्रदेश –दिल्ली (1483 वर्ग किलोमीटर);

(ii) हरियाणा उपक्षेत्र जिसमें हरियाणा राज्य के फरीदाबाद, गुड़गाँव, रोहतक, सोनीपत जिले, महेन्द्रगढ़ जिले की रिवाड़ी तथा बावल तहसीलें; करनाल जिले की पानीपत तहसील सम्मिलित हैं (13,413 वर्ग किलोमीटर);

(iii) उत्तर प्रदेश उप-क्षेत्र, जिसमें मेरठ, गाजियाबाद तथा बुलन्दशहर जिले सम्मिलित किये जाते हैं (10,853 वर्ग किलोमीटर);

(iv) राजस्थान उप-क्षेत्र जिसमें अलवर जिले के अलवर, रामगढ़, बहरोड़, मंडावर, किशनगढ़ तथा तिजारा तहसीलें सम्मिलित की जाती हैं (4,493 वर्ग किलोमीटर)।

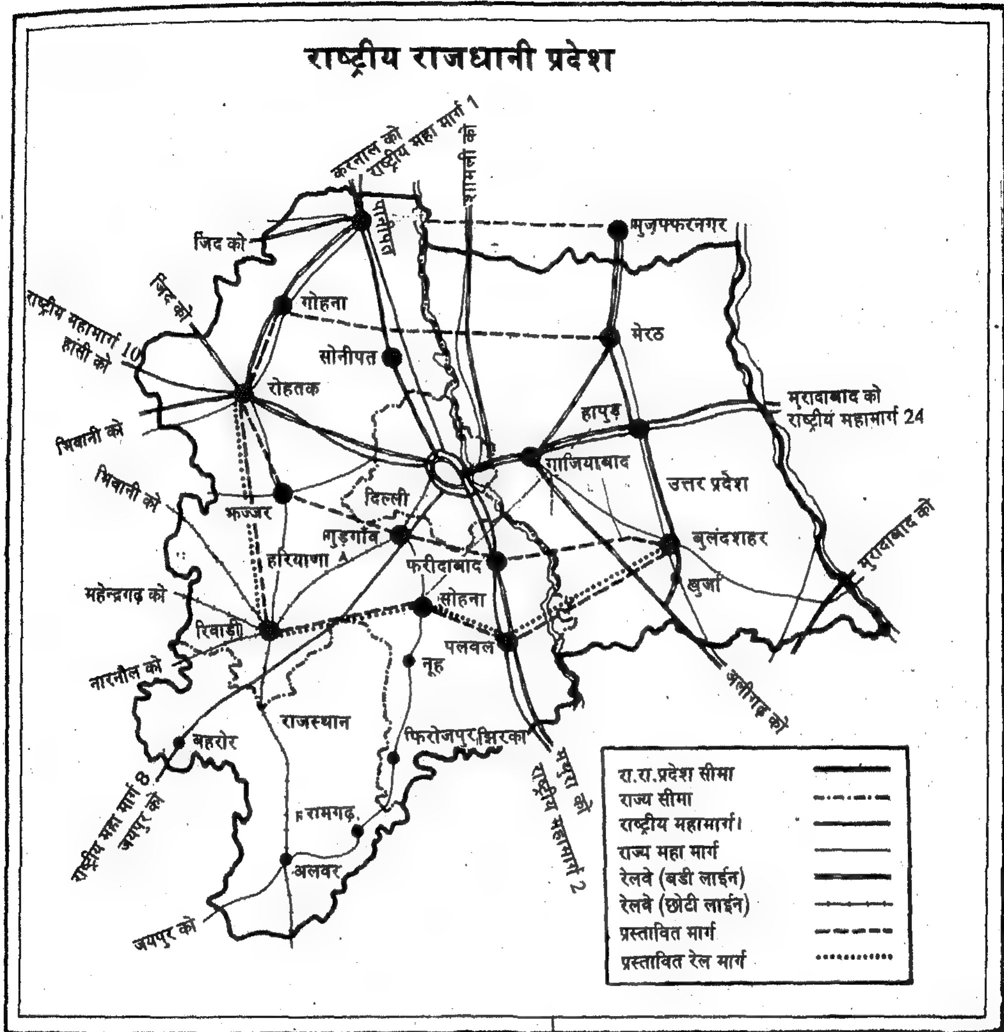
इस प्रकार राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के अन्तर्गत 30,242 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल है।

चित्र 5.4 में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का क्षेत्रीय विस्तार प्रदर्शित किया गया है।

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के क्षेत्रीय नियोजन के उद्देश्य

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के क्षेत्रीय नियोजन का प्रमुख उद्देश्य–जनसंख्या एवं नगरीय क्षेत्र का नियंत्रित संचालन तथा इसे एक ऐसी सीमा में रखना है जिसका प्रबन्ध इस प्रकार किया जाए जिससे नगरीय जीवन-गुणवत्ता का ह्रास न हो। अतः यह सोचा गया कि दिल्ली के चारों ओर मुद्रिका-नगरों की एक श्रृंखला का विकास किया जाए तथा जनसंख्या के वितरण की विषमता को दूर करने के लिए इन नगरों की सम्भाव्यताओं को निर्धारित किया जाए। इस योजना में दिल्ली महानगर से हटकर आर्थिक क्रियाओं के विकेन्द्रीकरण तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में मुद्रिका-नगरों में आर्थिक क्रियाओं के और अधिक अवसर पैदा करने की भी सिफारिश की गई। इस उद्देश्य की प्राप्ति दिल्ली में बड़े उद्योगों की अवस्थिति पर रोक लगाकर तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के अन्य भागों में उद्योगों के विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन देकर एवं रोजगार के अवसर प्रदान करने के द्वारा की जानी थी। यह सिफारिश भी की गई कि दिल्ली से कुछ दफ्तरों को दूसरे नगरों में स्थानान्तरित कर दिया जाय। क्षेत्रीय योजना में परिवहन तंत्र, जल आपूर्ति ऊर्जा, आवास तथा अन्य सामाजिक सुविधाओं के समन्वित विकास का समावेश भी किया गया था। यह भी योजना बनाई गई कि प्राथमिकता दिए जाने वाले नगरों का समन्वित नगरीय विकास किया जाएगा।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिल्ली प्रशासन, उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा राजस्थान सरकारों में मतैक्य पर आधारित एक प्रशासनिक ढांचे का विकास करना आवश्यक था। जनवरी 1985 में संसद द्वारा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्रीय नियोजन ऐक्ट पारित किया गया तथा एक विधि संगत बोर्ड की स्थापना की गई। यही बोर्ड क्षेत्रीय स्तर पर राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के नियोजन, क्रियान्वयन एवं विकास के लिए उत्तरदायी है। इस बोर्ड का मुख्य कार्य क्षेत्रीय योजना का क्रियान्वयन करना तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में भू-उपयोग एवं सुविधाओं के विकास की नीतियों के निर्धारण एवं इन पर नियंत्रण रखना है।



चित्र 5.4 राष्ट्रीय राजधानी प्रदेश

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र नियोजन के लक्ष्य

जनसंख्या का वितरण

(i) राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति तथा दिल्ली में जनसंख्या की वृद्धि कोरोकने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ चुने हुए नोडीय बिन्दुओं को विकास की प्रक्रियाओं का प्रेरणा-स्रोत बनाया जाय। कुछ ऐसे केन्द्रों की पहचान की जा चुकी है जिन में विकास की सम्भाव्यताएं विद्यमान हैं तथा वे जनसंख्या की वृद्धि को आत्मसात करने हेतु आर्थिक अवसर

प्रदान कर सकते हैं। ये केन्द्र मेरठ, हापुड़, बुलन्दशहर, खुर्जा, पलवल, रेवाड़ी, भिवाडी-धारूहेड़ा संकुल, रोहतक, पानीपत तथा अलवर है। इन केन्द्रों का चयन उनके आर्थिक आधार को सुदृढ़ करने के लिए किया गया है ताकि वे रोजगार के अवसर प्रदान करके प्रवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की जनसंख्या नीति का मुख्य उद्देश्य दिल्ली मेट्रोपोलिटन क्षेत्र में जनसंख्या की वृद्धि को नियंत्रित करना है। 2001 के लिए राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की आन्तरिक विकास योजना के अन्तर्गत दिल्ली मेट्रोपोलिटन क्षेत्र के नगरों की जनसंख्या 37 लाख निर्धारित की गई है जो इस प्रकार वितरित होगी; लोनी समेत गाजियाबाद, (11 लाख), नोएडा (5.5 लाख), फरीदाबाद (10 लाख), गुड़गांव (7 लाख), बहादुरगढ़ (2 लाख) तथा कुण्डली (1.5 लाख)।*

इसके साथ-साथ प्राथमिकता के नगरों की जनसंख्या 2001 तक के लिए 50 लाख अनुमानित की गई है जिसका वितरण इस प्रकार होगा: : मेरठ (13 लाख), हापुड़ (6 लाख), बुलन्दशहर-खुर्जा (10 लाख), पलवल (3 लाख), अलवर (5 लाख), रिवाड़ी-भिवाडी-धारूहेड़ा-संकुल (3 लाख), रोहतक (5 लाख) तथा पानीपत (5 लाख)। इसके अतिरिक्त योजना के अन्तर्गत चार स्तरीय अधिवासों के विकास का सुझाव दिया गया है जिनमें क्षेत्रीय केन्द्र, उपक्षेत्रीय केन्द्र, सेवा केन्द्र तथा ग्राम सम्मिलित हैं।

(ii) आर्थिक क्रियाओं का विकेन्द्रीकरण

दिल्ली से जनसंख्या के दबाव को कम करने तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में जनसंख्या की वृद्धि को प्रेरित करने वाले रोजगार के अवसरों को उत्पन्न करने वाली क्रियाओं के विकास के लिए भी योजना के अन्तर्गत सुझाव दिए गए हैं। उद्योगों की अवस्थिति, केन्द्रीय सरकार तथा सार्वजनिक क्षेत्र के दफ्तरों का विकेन्द्रीकरण तथा थोक एवं फुटकर व्यापार आदि कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं जिनके विकेन्द्रीकरण की बात सोची गई है। दिल्ली में भारी एवं मध्यम दर्जे के उद्योगों की अवस्थिति पर रोक लगानी होगी तथा दिल्ली मेट्रोपोलिटन क्षेत्र के बाहर, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में अन्यत्र इन उद्योगों को लगाने की सुविधाएँ देने की नीति अपनानी पड़ेगी। प्राथमिकता के आधार पर विकसित किए जाने वाले नगरों में औद्योगिक एस्टेटों की स्थापना करके भारी, मध्यम तथा लघु उद्योगों को आकर्षित किया जा सकता है। यह सुझाव भी है कि उन दफ्तरों को दिल्ली से बाहर ले जाया जाए जिनका कार्य मंत्रालय, नयाचार (प्रोटोकॉल) तथा सम्पर्क से सम्बद्ध न हों। सार्वजनिक उपयोगों का कोई भी दफ्तर जो उपर्युक्त कार्य न करता हो उसे भी दिल्ली से बाहर ले जाना चाहिए। उपर्युक्त कार्य करने वाले दफ्तर यदि अपना विस्तार करना चाहते हों तो उन्हें इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे इनका विस्तार दिल्ली मेट्रोपोलिटन क्षेत्र में किसी स्थान पर करें न कि दिल्ली के केन्द्रशासित प्रदेश में।

वह थोक व्यापार जो दिल्लीवासियों के लिए आवश्यक नहीं है उसे राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में अन्यत्र कहीं स्थानान्तरित कर देना चाहिए। वे

---

* एन.सी.आर. प्लानिंग बोर्ड, इन्टेरिम डेवलपमेंट प्लान, 2001 नगरीय विकास मंत्रालय, भारत सरकार, 1987, पृष्ठ-3

थोक-व्यापार की वस्तुएँ जिनका 60 प्रतिशत उपयोग दिल्ली में होता है, जो स्वास्थ्य के लिए खतरनाक नहीं है तथा जो अधिक स्थान नहीं घेरतीं, उन्हें दिल्ली में रहने दिया जाए अन्यथा अन्य वस्तुओं के थोक व्यापार को दिल्ली के बाहर स्थानान्तरित करना चाहिए। प्लास्टिक, रसायन लकड़ी तथा अन्य प्रज्वलनशील पदार्थों को जो खतरनाक हैं अथवा जो अधिक स्थान घेरते हैं जैसे- लोहा, इस्पात तथा गृहनिर्माण सामग्री उन्हें दिल्ली मेट्रोपोलिटन क्षेत्र में ही स्थापित किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के क्षेत्रीय केन्द्रों में ऐसी सुविधाएँ दी जानी चाहिए जो थोक व्यापार को आकर्षित कर सकें।

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र मे भू-उपयोग

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की प्रमुख आर्थिक क्रिया कृषि है तथा भविष्य में भी इसका महत्व बना रहेगा। यहाँ की लगभग 80 प्रतिशत भूमि पर कृषि की जाती है और कुल श्रम-बल का 50 प्रतिशत अपने जीवन निर्वाह के लिए प्राथमिक खंड की प्रक्रियाओं में लगा हुआ है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र विकास की संकल्पना का प्रमुख आधार कुछ चुने हुए केन्द्रों पर अ-कृषि खंड की क्रियाओं द्वारा रोजगार के अवसर प्रदान करना है जो जनसंख्या को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। नगरों के विस्तार के कारण कृषित भूमि का ह्रास अवश्यम्भावी है। जहाँ भी सम्भव हो, अधिवासों का विस्तार अनुपजाऊ बंजर अथवा कृषि योग्य भूमि पर किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में अ-कृषि कार्यों के विस्तार से कृषित भूमि को ह्रास से बचाया नहीं जा सकता। अतः खाद्यान्नों की उपज को बनाये रखने के लिए कृषि की गहनता आवश्यक है। कृषि के लिए भूमि का विस्तार उन्हीं क्षेत्रों में करने दिया जायेगा जहा संरक्षण की आवश्यकताओं के साथ द्वन्द्व की स्थिति न पैदा हो। वनों के अन्तर्गत क्षेत्रफल के विस्तार एवं संरक्षण पर बल देने की नीति रहेगी। चारे एव ईंधन के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए सामाजिक वानिकी को प्रोत्साहित किए जाने की नीति है। नगरीय विकास के लिए प्राथमिकता के नगरों एवं दिल्ली मेट्रोपोलिटन क्षेत्र के नगरों में पड़ने वाली भूमि की आवश्यकता की पूर्ति हेतु आबंटन का विवरण सारणी 5.4 में प्रस्तुत है। नगरीय क्षेत्रों में बढ़ने वाली जनसंख्या को नगरीय क्षेत्र के विस्तार द्वारा ही बसाया जाएगा परन्तु कहीं-कहीं पर इसके घनत्व के पुनर्समायोजन द्वारा भी इसे आत्मसात किया जाएगा। इस बात का भी ध्यान रखा जाएगा कि विकास एवं पर्यावरणीय संरक्षण एवं सुरक्षा में द्वन्द्व न हो। क्षेत्र के नैसर्गिक सुन्दरता, पुरातत्व के स्थानों, पार्क, अभयारण्यों आदि का विकास किया जाएगा तथा उन्हें सुदृढ़ किया जाएगा जिससे वे मनोरंजन के लिए उपलब्ध रहें। दिल्ली नगरीय एवं दिल्ली मेट्रोपोलिटन क्षेत्र के बीच हरित पट्टी बनाने की योजना है। दिल्ली से अलवर के बीच अरावली पहाड़ियाँ संरक्षण के द्वारा नैसर्गिक वनों के विकास के लिए बहुत उपयुक्त क्षेत्र है।

(iii) क्षेत्रीय परिवहन तंत्र

परिवहन-जाल से यात्रियों एवं वस्तुओं के ढोये जाने की क्षमता बढ़ जाती है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में परिवहन को सुचारू रूप से चलाने के लिए रेल तथा सड़क परिवहन के समन्वित विकास की आवश्यकता है। सोनीपत-

सारणी 5.4

2001 तक राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में नगरीय विकास के लिए भूमि की आवश्यकता

	नगर/नगरीय संकुल	वर्तमान क्षेत्रफल हेक्टेयर में	जनसंख्या (लाख में) 1981	जनसंख्या का घनत्व प्रति हेक्टेयर	2001 में निर्धारित जनसंख्या (लाख)	अतिरिक्त जनसंख्या (लाख)	कुल भूमि जिसकी आवश्यकता होगी (हेक्टे.)	अतिरिक्त भूमि जिसकी आवश्यकता होगी (हेक्टे.)
I.	प्राथमिकता के नगर/नगरीय संकुल							
	1. मेरठ	8082	5.37	66	13.0	7.63	10,400	2318
	2. हापुड़	583	1.03	176	6.0	4.97	4,800	4217
	3. बुलन्दशहर-खुर्जा संकुल	1975	1.70	86	10.0	8.30	8000	6025
	4. पलवल	552	0.47	85	3.0	2.53	2,400	1848
	5. पानीपत	2082	1.38	66	5.0	3.62	4000	1918
	6. रोहतक	2203	1.67	76	5.0	3.33	4000	1797
	7. रेवाड़ी-भिवाड़ी धारूहेड़ा संकुल606	0.52	85	3.0	2.48	2400	1797	
	8. अलवर	8000	1.46	18	5.00	2.54	4000	शून्य
I.	का जोड़	24083	13.6	56	50.0	36.40	40000	19,917
II.	दिल्ली मेट्रोपालिटन क्षेत्र के नगर							
	1. लोनी सहित गाजियाबाद	6840	3.0	44	11.0	8.0	8800	1960
	2. नोएडा	600	0.75	125	5.5	4.75	4400	3800
	3. फरीदाबाद	17,824	3.31	18	10.0	6.69	8000	शून्य
	4. गुड़गाँव	2,413	1.0	41	7.0	6.0	5600	3200
	5. बहादुरगढ़	900	0.37	41	2.0	1.63	1600	700
	6. कुन्डली	200	0.25	125	1.50	1.25	1200	1000
II.	का जोड़	28,777	8.68	30	37.0	28.32	29600	10,660
	कुल जोड़	52860	22.28	42	87.0	64.72	69600	30577

नोट : अनुमानित घनत्व 125 व्यक्ति प्रति हेक्टेयर

स्रोत: इन्टेरिम डेव्लपमेंट प्लान 2001, एन. सी. आर. प्लानिंग बोर्ड, 1087 पृष्ठ - 45.

बागपत, मेरठ-हापुड़, बुलन्दशहर - सिकन्दराबाद- फरीदाबाद - रोहतक - गुडगाँव, झज्जर- गोहाना - सोनीपत को मिलाने वाले एक आन्तरिक सड़क ग्रिड के बनाने की योजना है। इसी प्रकार एक बाह्य ग्रिड द्वारा पानीपत, मुजफ्फरनगर - मेरठ - हापुड़ - बुलंदशहर - खुर्जा - पलवल - रेवाड़ी - झज्जर-गोहाना - रोहतक - पानीपत को मिलाने की भी योजना बनाई गई है। इनके अतिरिक्त परिवहन तंत्र चार - स्तरीय अधिवासों से अपने को समायोजित करता हुआ विकसित होगा।

क्षेत्रीय रेल उपमार्ग बनाने का प्रस्ताव भी है जो मेरठ - हापुड़- बुलन्दशहर - खुर्जा - पलवल - सोहना - रेवाड़ी - झज्जर तथा रोहतक को मिलायेगा। राजस्थान तथा हरियाणा में विशेषतः दिल्ली तथा अलवर के मध्य मीटर गेज के रेलमार्गों को अधिक क्षमता के रेल मार्ग में बदलना पड़ेगा। इस मुद्रिका - रेलमार्ग पर ई. एम. यू. की सेवायें यात्रियों एवं वस्तुओं के परिवहन में सुविधा प्रदान करेंगी। उच्च स्तर के समन्वय के लिए एकीकृत मेट्रोपॉलिटन परिवहन प्राधिकरण बनाने की भी योजना है।

(iv) भौतिक सुविधाओं का नियोजन

एक समन्वित क्षेत्र के रूप में कार्यशील होने के लिए राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में भौतिक सुविधाओं की कमियों को समाप्त करना आवश्यक होगा। निरंतर ऊर्जा आपूर्ति आर्थिक विकास के लिए अत्यावश्यक है। औद्योगिक उन्नति के लिए पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा का उपलब्ध होना आवश्यक है। नरोरा का परमाणु ताप पर आधारित संयत्र ऊर्जा की आपूर्ति की कमी को पूरा करेगा। विद्युत दरों में इस प्रकार समायोजन करने का प्रस्ताव है जिससे औद्योगिक एवं वाणिज्यिक उपयोग में दिल्ली को वरीयता कम दी जाए। तीव्र गति से आर्थिक रूपान्तरण के लिए राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के नगरीय एवं ग्रामीण इलाकों में बिजली की सतत् आपूर्ति बहुत आवश्यक है।

नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में पीने के पानी का संकट बढ़ता ही जा रहा है क्योंकि पानी के उपयोग के लिए प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही है। नदी एवं भूमिगत जल पर आधारित एक समन्वित-आपूर्ति की योजना, प्राथमिकता के केन्द्रों में पहले चरण एवं अन्य नगरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में दूसरे चरण में, बनाई गई है। जल प्रदूषण नियंत्रण ऐक्ट 1974 तथा पर्यावरणीय संरक्षण ऐक्ट 1986 के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों को कठोरता से लागू कर इस चक्रीय संसाधन को नष्ट होने से बचाया जा सकता है।

सफाई, मल विसर्जन एवं बरसाती पानी के बहाव की समस्याओं को नगरीय केन्द्रों में प्राथमिकता के आधार पर हल करना पड़ेगा। भीड़-भाड़ से स्वच्छता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। नगरों तथा ग्रामीण अधिवासों में भीड़ को कम करना आवश्यक है। उन नगरों में जहाँ मल-विसर्जन की व्यवस्था नहीं है, कम लागत के उपायों का समावेश करना पड़ेगा। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र नियोजन सुलभ इन्टरनेशनल के मॉडल के आधार पर मल-विसर्जन की व्यवस्था के विषय में विचार कर सकता है।

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र महानगरीय एवं क्षेत्रीय विकास के नियोजन का एक अनुभव प्रस्तुत करेगा। यहाँ कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था में नगरीकरण के उच्च विकास का अनुभव प्राप्त होगा। फलस्वरूप एक समन्वित नगरीय तंत्र के

विकसित होने से दिल्ली पर जनसंख्या का दबाव कम होगा। यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है क्योंकि इस सम्पूर्ण क्षेत्र में भूमि की कीमत आसमान छू रही है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र को एक संकल्पना के रूप में तीव्रता से क्रियान्वित करना पड़ेगा अन्यथा अनियोजित विकास नियोजित विकास को हड़प लेगा।

4. बम्बई मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र

मेट्रोपॉलिस का शाब्दिक अर्थ है, "मातृ नगर"। कोई भी शहर जिसकी जनसंख्या 10 लाख (1 मिलियन) से अधिक होती है, मेट्रोपॉलिस (महानगर) कहलाता है। भारत में महानगरीकरण वर्तमान शताब्दी की परिघटना है। भारत में जबकि नगरीय जनसंख्या 1901 में 25.85 मिलियन से बढ़ कर 1981 में 156.19 मिलियन हो गई, उसी समय में महानगरीय जनसंख्या 1.49 मिलियन से बढ़कर 42.02 मिलियन हुई है। जबकि नगरीय जनसंख्या 1901 से 1981 के बीच छः गुना बढ़ी है, इसी काल में महानगरीय जनसंख्या में 28 गुना वृद्धि हुई है।

ब्रिटिश द्वारा विकसित तीन पत्तनों, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में से बम्बई एक प्रमुख पत्तन है। पत्तन को तट पर होने की अवस्थिति का लाभ होता है। बम्बई को अरब सागर के तट पर अव-स्थित होने का अतिरिक्त लाभ है तथा यह स्वेज नहर के निकट है जो पश्चिमी यूरोप को जोड़ती है। बम्बई को कपास एवं तिलहन उगाने वाला समृद्ध पृष्ठ-प्रदेश है। यह पत्तन आन्तरिक पृष्ठ प्रदेश से संसाधनों को कर्षित कर विदेशों को भेजने तथा विदेशों से आयातित उत्पादों को पृष्ठ प्रदेश के बाजारों तक पहुंचाने का कार्य करता था। बम्बई पत्तन से आयातित मशीन की सहायता से स्थापित की गई सूती मिलों तथा रेल द्वारा आन्तरिक भागों से जुड़ जाने के कारण बम्बई को एक नगरीय केन्द्र के रूप में विकास करने में सहायता मिली है। जैसे-जैसे बम्बई एक ऐसे केन्द्र के रूप में विकसित होता गया जहाँ आर्थिक अवसर उपलब्ध होते गये, देश के प्रत्येक भाग से प्रवासी इस केन्द्र में आने लगे।

आर्थिक लाभों के कारण बम्बई की वृद्धि बड़ी तीव्र गति से हुई है। उद्योगों, वाणिज्य, व्यापार तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं के "संकेन्द्रण" से बम्बई के महानगरीकरण में सहायता मिली है। आर्थिक अवसरों द्वारा जनित आकर्षण-बल बड़ी संख्या में प्रवासियों को आकृष्ट करता है और जो अन्ततोगत्वा महानगरों की सबसे बड़ी समस्या बन जाती है। बड़ी संख्या में प्रवासियों के आने से स्थान, सार्वजनिक सुविधाओं, आवास, परिवहन तथा रोजगार के अवसरों पर भारी दबाव पड़ता है। आवास की बढ़ी हुई माँग से भूमि के दाम शहर के भीतर तथा निकट के पृष्ठ प्रदेश में तीव्रता से बढ़ते हैं। भीड़-भाड़ तथा प्रतिस्पर्द्धा से सामाजिक तनाव बढ़ते हैं तथा विषमताएँ बहुत स्पष्ट हो जाती हैं।

बम्बई सेल्सेट द्वीप पर एक पत्तन के रूप में प्रारम्भ हुआ। यह द्वीप थाणे तथा बेसीन निवेशिकाओं द्वारा मुख्य भू-खण्ड से पृथक था। यह नगर धीरे-धीरे एक बड़े शहर में परिवर्तित हो गया और आगे चलकर एक महानगर बन गया। यह द्वीप बढ़ती हुई जनसंख्या, विकासशील औद्योगिक क्रिया एवं प्रवासियों की बड़ी संख्या को संभाल न सका। स्थान की कमी, भूमि के ऊँचे दाम, रहन-सहन की उच्च कीमतें तथा रेल एवं सड़क मार्गों द्वारा प्राप्त संबद्धता के कारण नगर का

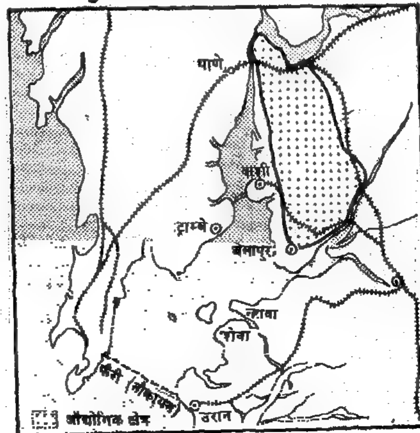
बहिर्मुखी विकास प्रारम्भ हुआ। रेल मार्गों एवं सड़क मार्गों ने बस्तियों की वृद्धि एवं विकास के गलियारों की रचना की। नगर का सीमान्त बढ़ने लगा। औद्योगिक क्रिया पृष्ठ प्रदेश के अन्य नगरों में भी फैल गई। इस प्रकार बम्बई नगर विस्तृत होकर वृहत् बम्बई समेत एक मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र में परिणत हो गया। बम्बई मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र का विस्तार 603 वर्ग किलोमीटर पर है जो बम्बई के पुराने नगर के क्षेत्रफल से 10 गुना अधिक है। 1981 में इसकी जनसंख्या 8,227,332 व्यक्ति थी तथा 1961, 1971 एवं 1981 में क्रमशः 3.42, 3.7 तथा 3.26 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर अंकित की गई। बम्बई मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र का विस्तार मुख्य-खण्ड की ओर हुआ है और यदि वृद्धि की वर्तमान प्रवृत्ति जारी रही तो महानगरीय क्षेत्र का विस्तार और अधिक होगा तथा बहुत से ग्रामीण क्षेत्रों को ग्रसित कर लेगा। किसी भी महानगरीय क्षेत्र की भाँति, इस आकार के मेट्रोपॉलिस का वैज्ञानिक नियोजन बहुत आवश्यक है।

भौगोलिक व्यक्तित्व

बम्बई नगर प्रारम्भ में एक पत्तन के रूप में 1774 में स्थापित किया गया। यह नगर दक्कन लावा से बने हुए सात द्वीपों में से एक द्वीप पर बसाया गया। उस समय से अब तक सातों द्वीप आपस में जुड़ गए हैं, क्योंकि उनके बीच के समुद्री भाग को भर दिया गया है। माहिम नदी सेल्सेट द्वीप को बम्बई द्वीप से अलग करती थी। बम्बई पत्तन जिस द्वीप पर स्थापित किया गया था उसे बम्बई द्वीप कहते हैं। थाना निवेशिका (क्रीक) इन द्वीप समूहों को मुख्य भू-खण्ड से पृथक करती थी।

बम्बई महानगर की यह द्वीपीय अवस्थिति पश्चिमी घाट की दूरस्थ पहाड़ी दीवार द्वारा सुरक्षित है। द्वीप पर भी तीन पहाड़ियाँ हैं जो स्थानीय ऊँचाईयों के रूप में देखी जा सकती हैं। ये हैं, मालाबार हिल, पाली हिल तथा ऐन्टॉप हिल। यह द्वीप लम्बायमान है। यहाँ स्थित बन्दरगाह अपने 192 वर्ग किलोमीटर गहरे पानी के क्षेत्र के कारण भारत का एक अद्भुत बन्दरगाह है। वृहत् बम्बई एक फनाकार क्षेत्र पर थाणे जिले की ओर फैला हुआ है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र रेल एवं सड़क

मुम्बई महानगरीय क्षेत्र



चित्र 5.5 मुम्बई महानगरीय क्षेत्र

मार्गों द्वारा बनाये गये गलियारों के साथ-साथ निर्मित क्षेत्र की एक सतत श्रृंखला है।

औद्योगिक विकास

स्वतंत्रता के पश्चात् बृहत बम्बई में औद्योगिक वृद्धि बड़ी तीव्रता से हुई है। पिछले 15 वर्षों में थाणे, बेलापुर पट्टी तथा तालोजा क्षेत्र में कई औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की गई हैं। थाणे निवेशिका (क्रीक) के पार मुख्य भू-खण्ड पर विकसित न्हावा-शेवा पत्तन अपने पृष्ठ प्रदेश में विकसित उद्योगों को पत्तन की सेवाएं उपलब्ध करायेगा। थाणे निवेशिका (क्रीक) पर बनाया गया पुल दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्वी भागों को पारगम्यता प्रदान करेगा तथा बृहत् बम्बई एवं नये-बम्बई को जोड़ेगा। इस प्रकार बृहत् बम्बई, थाणे तथा नई बम्बई एक बड़े नगरीय समूहन में विकसित हो गये हैं।

बम्बई पत्तन का पृष्ठ प्रदेश काफी विस्तृत है। इस का विस्तार वस्तुतः दिल्ली, जबलपुर, नागपुर तथा हैदराबाद तक है, परन्तु जैसे-जैसे इससे दूरी बढ़ती है उसका प्रभाव कम होता जाता है। लेकिन पूर्व में मथेरान तक इसका प्रभाव अधिक है। मथेरान पश्चिमी घाट की पहाड़ियों पर स्थित एक पहाड़ी स्थान है जो समुद्र तल से 760 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। पश्चिमी घाट का पश्चिमी पक्ष बम्बई से जुड़ा हुआ है, क्योंकि इन्हीं क्षेत्रों से बम्बई को जल-विद्युत प्राप्त होती है। बम्बई-पुणे मार्ग पर स्थित पनवेल नामक स्थान इस मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र की दक्षिणी - पूर्वी सीमा का निर्धारण करता है।

इस मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र के उद्योगों में भारी विविधता पाई जाती है। सूती वस्त्र उद्योग इस क्षेत्र का सबसे पुराना तथा महत्वपूर्ण उद्योग है। सूती कपड़े की बहुत सी मिलें परेल में स्थित हैं, क्योंकि उस समय इस क्षेत्र में भूमि सस्ती थी। सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात् इन्जीनियरी उद्योग का स्थान है। ये मज़गाँव के निकट स्थित हैं। बहुत से इन्जीनियरी उद्योगों में वस्त्र उद्योग एवं मुद्रण उद्योग की मशीनरी का विनिर्माण किया जाता है। यहाँ की औद्योगिक भू-दृश्यावली में रसायन, दवा तथा खाद्य उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। नगर से दूर धातु, दवाएं, रसायन, डेयरी तथा चमड़े के उद्योग लगभग कल्याण तक फैले हुये हैं। बम्बई के उत्तरी उप-नगरीय भाग में फिल्म उद्योग स्थित हैं। इस क्षेत्र के औद्योगिक विकास को जल विद्युत की उपलब्धता का लाभ मिला क्योंकि इस क्षेत्र में कोयले की भारी कमी थी। उद्योगों एवं रेल परिवहन की ऊर्जा की माग को पूरा करने के लिए जल विद्युत योजनायें 1927 में विकसित की गई। लोनावाला, नीलामुला तथा आंध्रा घाटी की तीनों जलविद्युत परियोजनाएँ पुरानी परियोजनाएँ हैं। पश्चिमी घाट की पहाड़ियों पर पूर्व की ओर बहने वाली छोटी-छोटी नदियों के पानी को छोटे जलाशयों में एकत्रित करके सुरंगों द्वारा पश्चिमी श्रेणियों की पदस्थली में स्थित तीन जल-विद्युतघरों, खोपोली, भिवपुरी तथा भीरा तक लाया जाता है। रत्नागिरि जिले में कोयना परियोजना की भांति कई अन्य परियोजनाएँ भी प्रारम्भ की गई हैं।

पत्तन

बम्बई देश के पश्चिमी तट पर स्थित सबसे महत्वपूर्ण पत्तन है। द्वीप के पूर्वी भाग में कई डॉक (गोदी) बनाये गये हैं। आठ किलोमीटर लम्बे क्षेत्र में गोदियों की एक श्रृंखला है। इस पत्तन से विभिन्न वस्तुओं जैसे खनिज तेल, कपास, कपास

के उत्पादों, तिलहन, मैंगनीज़, अनाज, मशीनों तथा निर्माण के सामान का व्यापार संचालित होता है। प्रिंस, विक्टोरिया एवं अलेक्ज़ेन्ड्रिया तीन महत्वपूर्ण एवं व्यस्त डॉक (गोदिया) हैं। इनमें पानी की पर्याप्त गहराई, लम्बा जल-सीमान्त विभिन्न सुविधायें तथा 193 किलोमीटर लम्बी पोर्ट-ट्रस्ट द्वारा संचालित रेल मार्ग की सुविधा है। इस पत्तन पर भारतीय नौसेना के जहाजों के लिए भी गोदी की सुविधा उपलब्ध है।

बम्बई मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र का नियोजन

भारत में मेट्रोपॉलिटन नियोजन एक नया अभ्यास है यद्यपि कि कुछ बड़े नगरों के मास्टर प्लान पहले बनाये जा चुके हैं। भारत के चार बड़े नगरों दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में मेट्रोपॉलिटन नियोजन किया गया है। इन बड़े नगरों की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए यह नियोजन आवश्यक समझा गया है। बढ़ती हुई जनसंख्या को आत्मसात करने, अवसंरचनात्मक सुविधायें प्रदान करने, रोजगार के अवसर पैदा करने, भीड़-भाड़ कम करने तथा जीवन की गुणवत्ता को बनाये रखने के लिए इन नगरों के लिए एक समन्वित नियोजन की आवश्यकता का बोध हुआ। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की संकल्पना, जिससे आप पहले से ही परिचित हैं कलकत्ता मेट्रोपॉलिटन संगठन (सी.एन.ओ.) इत्यादि का आविर्भाव, मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र के नियोजन की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ।

बम्बई नगर में अनियंत्रित औद्योगिक एवं नगरीय वृद्धि हुई है। इसके फलस्वरूप 1901 में पाई जाने वाली यहाँ की जनसंख्या जो 812,912 व्यक्ति थी, 1981 में बढ़कर 8,227,332 व्यक्ति हो गई। 1948 के प्रथम बृहत् बम्बई प्लान में नगर के मध्य भाग से उद्योगों को हटा कर आगरा सड़क-मार्ग एवं पश्चिमी रेलवे के रेलमार्गों के साथ-साथ बाहर ले जाने का प्रस्ताव था। 1948 में जनसंख्या की सीमा 3.7 मिलियन निर्धारित की गई थी। यह सीमा 1958 में ही पार हो गई थी। 1964 में वृहत् बम्बई के एक अन्य प्लान में इसकी जनसंख्या 8 मिलियन निर्धारित की गई थी। यह सीमा भी 1981 में पार हो गई। कुछ समाजवादी देशों को छोड़ कर मेट्रोपॉलिटन क्षेत्रों में जनसंख्या की ऊपरी सीमा निर्धारित करना निरर्थक रहा है। वर्तमान वृद्धि दर से बम्बई की जनसंख्या 1991 में 12 मिलियन तक पहुंच जाने की सम्भावना है।

कुछ प्रारम्भिक सुविधाओं के फलस्वरूप बम्बई के निकट विकसित औद्योगिक समूहन को धराशायी नहीं किया जा सकता परन्तु नये उद्योगों को मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र के बाहर लगाना पड़ेगा। बान्द्रा एवं कुर्ला क्षेत्र में अब और उद्योग नहीं लगाये जा सकते क्योंकि भूमि की कमी है और समुद्र को भर कर और भूमि प्राप्त करने में कठिनाई है।

मुख्य-भू खण्ड पर एक नये सेटलाइट मेट्रोपॉ-लिटन नगर का विकास हो रहा है जिसे नया-बम्बई कहते हैं। यह पुराने नगर से अधिक दूर नहीं है तथा रेल एवं सड़क मार्गों द्वारा उससे जुड़ा हुआ हैं। अन्तर नगरीय एवं नगर के भीतर परिवहन सेवा प्रदान करने के लिए एक विस्तृत योजना बनाई गई है। इस योजना को कई चरणों में कार्यान्वित करना पड़ेगा। इसे 1972 में प्रारम्भ किया गया था। नई बम्बई को उत्तर में थाणे, तथा मध्य में दादर से बस सेवाओं द्वारा जोड़ा गया है।

बम्बई में फेरी हार्फ तथा नई बम्बई में उरान के मध्य नौका वहन सेवायें उपलब्ध कराई गई हैं। इस प्रकार की सेवायें बम्बई के अन्य भागों में भी उपलब्ध कराई जाने की योजना है। पुराने बम्बई के फोर्ट इलाके के व्यापारिक भाग को नई बम्बई के बेलापुर के व्यापारिक भाग से तीव्र फेरी सेवाओं द्वारा जोड़े जाने का प्रस्ताव है। इन दोनों व्यापारिक भागों को थाणे निवेशिका (क्रीक) विलग करता है। नई बम्बई में दो प्राकृतिक बन्दरगाहों की स्थापना के लिए स्थान है, ये हैं – न्हावा एवं शेवा। इन पर पत्तन बनाने की योजना है। थाणे, बेलापुर एवं तालोजा पट्टी में उद्योग स्थापित होने शुरू हो गये हैं। यह भी सुझाव दिया गया है कि महाराष्ट्र सरकार के कुछ दफ्तर पुराने बम्बई से नई बम्बई में स्थानान्तरित कर दिये जाएं। इससे पुराने बम्बई में भीड़-भाड़ कम होगी तथा नई बम्बई को प्रतिष्ठा मिलेगी। नई बम्बई के विकास से भू-उपयोग प्रारूप में नये समायोजन की आवश्यकता होगी। संरक्षण एवं प्रदूषण नियंत्रण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है। नगरीय क्षेत्र के नियोजन तथा महाराष्ट्र के अन्य क्षेत्रों में उद्योगों के विसर्जन के साथ ग्रामीण क्षेत्रों का विकास करना भी आवश्यक है। इससे राज्य के अन्य भागों में रोजगार के अवसर उपलब्ध होंगे तथा ग्राम से नगर की ओर प्रवास को भी रोका जा सकता है। सभी मेट्रोपॉलिस नगरों के धीरे-धीरे सतत् पुनर्निर्माण की आवश्यकता होती है। ला कार्बूज़िये (चण्डीगढ़ के वास्तुविद् एवं नियोजक) के अनुसार "वे नगर जो लगातार अपना पुनर्निर्माण नहीं करते, मर जाते हैं।" अतः विकास के साथ साथ पुनर्विकास भी उतना ही आवश्यक है।

5. इन्दिरा गाँधी नहर कमाण्ड क्षेत्र

इन्दिरा गांधी नहर परियोजना मरूस्थल के एक भाग को सुख एवं समृद्धि का क्षेत्र बनाने के लिए, मानव द्वारा किया जाने वाला एक विशाल प्रयास है। यह संसार के बहुत बड़े नहर तंत्रों में से एक है। इन्दिरा गांधी नहर का कमाण्ड क्षेत्र राजस्थान के थार मरूस्थल के उत्तरी पश्चिमी भाग में श्री गंगा नगर, बीकानेर, जैसलमेर, बाड़मेर, जोधपुर तथा चुरू जिलों में स्थित हैं। यह पाकिस्तान की सीमा रेखा के साथ लगभग 23,725 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर फैला हुआ है। इन्दिरा गांधी नहर पाकिस्तान सीमा रेखा के समानान्तर लगभग 38 किलोमीटर की लम्बाई में उत्तर - पूर्व से दक्षिण- पश्चिम की ओर बहती है।

कमाण्ड क्षेत्र की पर्यावरणीय दशाएँ

धरातल

नहर कमाण्ड क्षेत्र वास्तव में बालू से ढकी हुई सिन्धु-गंगा मैदान की जलोढ़ भूमि है। कमाण्ड क्षेत्र का ऊपरी भाग घग्घर नदी का विस्तृत जलोढ़ मैदान है जिस पर लगभग 2 मीटर ऊँचाई के बालू के टीले पाये जाते हैं। सूरतगढ़ नगर के दक्षिण में यह नहर वास्तविक मरूस्थल से बाहर आ जाती हैं। इन्दिरा गांधी नहर कमाण्ड क्षेत्र के बीकानेर, जैसलमेर तथा बाड़मेर जिलों के धरातल की मुख्य विशेषताएँ विस्तृत तरंगित बालुका मैदान, धरातल से लगभग 60 मीटर ऊपर उठी हुई बालुका टीलों की कटकें तथा मरूस्थलीय मैदान अथवा अवदाब आदि हैं। नहर के मध्य एवं अन्तिम भाग में बालुका-टीलों का आकार एवं घनत्व बढ़ जाता हैं। जैसलमेर एवं बाड़मेर जिलों

में नहर के अन्तिम भाग में 80 से 100 प्रतिशत भूमि बालुका - टीलों से आच्छादित है। कमाण्ड क्षेत्र के निचले भागों में बालुका - टीले अनुदैर्ध्य तथा ऊपरी भाग में अनुप्रस्थ (ओड़) हैं।

कमाण्ड क्षेत्र के निचले एवं मध्य भाग में बालुका टीले अस्थिर हैं तथा वे दक्षिण - पश्चिम से उत्तर - पूर्व की ओर खिसकते रहते हैं। इस क्षेत्र का ढाल दक्षिण - पश्चिम की ओर है।

जल-प्रवाह तंत्र

नहर कमाण्ड क्षेत्र में कोई भी सदावाहिनी नदी नहीं है। घग्घर मात्र एक नदी है जो हिमालय की शिवालिक पहाड़ियों से निकल कर दक्षिण - पश्चिम की ओर पंजाब एवं हरियाणा को पार कर हनुमान गढ़ नगर के निकट राजस्थान में प्रवेश करती है। अनूपगढ़ तक इस के मार्ग को आसानी से देखा जा सकता है। यह एक मौसमी नदी है जो किसी झील या समुद्र में नहीं गिरती बल्कि बालू में लुप्त हो जाती है। कमाण्ड क्षेत्र के निचले भाग में आन्तरिक जल - प्रवाह तंत्र पाया जाता है। छोटी-छोटी नदियाँ अपना पानी एक छोटी झील या प्लाया में एकत्रित करती हैं। ये झीलें स्थानीय भाषा में "रन" कहलाती हैं तथा गर्मियों में सूख जाती हैं।

जलवायु

इस क्षेत्र में कठोर जलवायु दशाएँ पाई जाती हैं। यहाँ की जलवायु गर्म मरूस्थलीय है जिसमें दैनिक एवं मौसमी तापान्तर बहुत अधिक होता है। वर्षा बहुत कम तथा अनिश्चित होती है। ग्रीष्म ऋतु में लू तथा शीत काल में कभी-कभी शीत लहरें चलती हैं। तापक्रम ग्रीष्म काल में 49^{0} सेल्सियस तक हो जाता है। कमाण्ड क्षेत्र के उत्तरी भाग में 26^{0} सेल्सियस तथा दक्षिण-पश्चिम में 28^{0} सेल्सियस औसत वार्षिक तापक्रम पाया जाता है। कमाण्ड क्षेत्र के उत्तर में 30 से. मी. तथा दक्षिण-पश्चिम में 8 से. मी. औसत वार्षिक वर्षा होती है। लगभग 90 प्रतिशत वर्षा दक्षिणी पश्चिमी मानसून के मौसम में ही सीमित रहती है। सूखा एक सामान्य जलवायु परिघटना है। पाँच वर्षों में लगभग दो बार बहुत भयंकर सूखा पड़ता है। वर्षा की कालिक परिवर्तनशीलता बहुत अधिक है। नहर के ऊपरी भाग में वार्षिक वर्षा की परिवर्तनशीलता 50 प्रतिशत तथा निचले भाग में लगभग 80 प्रतिशत पाई जाती है। ग्रीष्म काल में वायु गति बहुत तीव्र रहती है। यहाँ की मिट्टी में वर्ष भर आर्द्रता की कमी बनी रहती है। वर्षा ऋतु में भी पौधों द्वारा कर्षित आर्द्रता की आपूर्ति वर्षा द्वारा नहीं हो पाती।

मिट्टियां

कमाण्ड क्षेत्र की मिट्टियां अधिकांशतः बलुई हैं, विशेष रूप से बीकानेर, बाड़मेर तथा जैसलमेर में बलुई मिट्टियों की अधिकता है। इन मिट्टियों का उद्भव निकट काल में होने के कारण इनकी संरचना विकसित नहीं हो पाई है। श्री गंगा नगर जिले में बलुई मिट्टियां घग्घर की जलोढ़ मिट्टियों से मिली होने के कारण अधिक उपजाऊ हैं। बलुई मिट्टियों में जैविक पदार्थों एवं पोटैशियम की कमी तथा फासफोरस की अधिकता पाई जाती हैं। मिट्टियों में क्षारीयता अधिक है तथा घुलनशील लवण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। कमाण्ड क्षेत्र के मध्य एवं निचले भागों में जहाँ जल-निकास में अवरोध हैं तथा बालुका-टीलों के मध्य के मैदानों में लवण-संकेन्द्रण अधिक पाया जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति

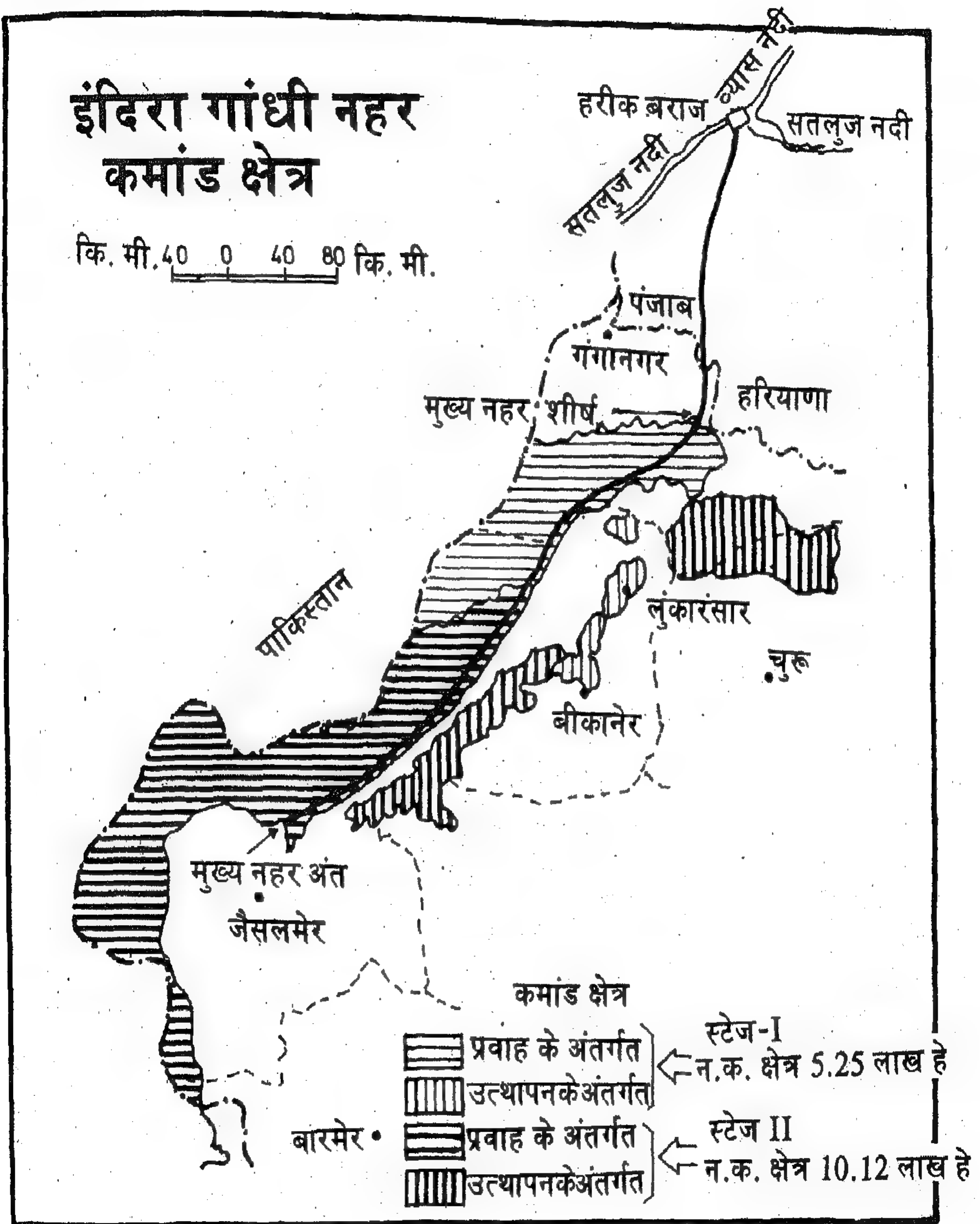
इन्दिरा गांधी नहर कमाण्ड क्षेत्र वस्तुतः वन-विहीन है। इसका मुख्य कारण अत्याधिक शुष्कता तथा मानवीकृत मरूस्थलीकरण की प्रक्रिया हैं। यहाँ की प्राकृतिक वनस्पति में मुख्यतः मरूद्भिद, कंटीली झाड़ियाँ तथा गुल्म सम्मिलित किए जाते हैं। इस क्षेत्र में **अकासिया निलेटिका, प्रोसोपिस सिनेरैरिया,** बेर तथा मदार के पेड़ों की विरल संख्या पाई जाती है। जैसलमेर, बीकानेर तथा बाड़मेर जिलों के मरूस्थली भागों में संसार की सबसे पोषक घास **सेवन** पाई जाती हैं। यहाँ पशुपालन अधिक होता है जो यहाँ के विस्तृत चरागाहों पर आश्रित रहते हैं। ये चरागाह वर्षा ऋतु के समाप्त होते ही सूख जाते हैं तथा उगी हुई घास को पशु चर लेते हैं। तत्पश्चात् आवरण विहीन भूमि मरूस्थलीकरण की प्रक्रिया से आक्रांत होती रहती है।

नहर का उद्भव

इन्दिरा गांधी नहर परियोजना पर काम 31 मार्च 1958 को प्रारम्भ हुआ था। पंजाब प्रान्त के फिरोजपुर जिले में सतलुज तथा व्यास के संगम पर स्थित हरिके बैराज से यह निकाली गई है। यह अपने तल में 40 मीटर चौड़ी तथा 6.4 मीटर गहरी है। अपने शीर्ष पर इसकी प्रवाह क्षमता 18,500 क्यूसेक्स है। 1981 के एक प्रस्ताव के अनुसार रावी-व्यास के अतिरिक्त जल से राजस्थान को 8.6 मिलियन एकड़ फीट पानी का नियतन किया गया था जिसमें से 7.6 मिलियन एकड़ फीट पानी का उपयोग इन्दिरा गांधी नहर द्वारा किया जायेगा। इन्दिरा गांधी नहर 204 किलोमीटर तक एक फीडर है और 150 किलोमीटर पंजाब में तथा 19 किलोमीटर हरियाणा में बहती है जहाँ इसमें कोई निकास नहीं हैं। मुख्य नहर का शीर्ष श्री गंगानगर के हनुमानगढ़ तहसील में मसीतावाली के निकट स्थित हैं। 445 किलोमीटर लम्बी नहर का अन्तिम भाग जैसलमेर जिले के मोहनगढ़ के निकट स्थित है। सागरमल गोपा शाखा के साथ-साथ इस नहर का कमाण्ड क्षेत्र- बाड़मेर जिले के गदरा रोड तक विस्तृत है। इस परियोजना का निर्माण कार्य हो रहा हैं तथा इसे दो चरणों में किया जा रहा है। इस नहर में 11 अक्तूबर 1967 को पानी छोड़ा गया था और 1 जनवरी 1987 को यह अन्तिम छोर तक पहुँचाया जा सका हैं। मुख्य नहर की दो प्रकार की शाखायें तथा वितरिकाएँ हैं। नहर के दाहिने किनारे की शाखायें प्रवाह वाहिकायें है जबकि बायें किनारे की शाखायें लिफ्ट वाहिकायें हैं। मुख्य नहर के पश्चिम की ओर भूमि का ढाल पाकिस्तान की सीमा रेखा की ओर मन्द हैं परन्तु पूर्व की ओर ढाल तीव्र है। अतः पानी को पम्प कर के लिफ्ट वाहिकाओं में डालना पड़ता है। अतः बायें किनारे पर रावतसर शाखा को छोड़ कर सभी लिफ्ट वाहिकायें हैं।

चरण - I

चरण - I में निर्माण कार्य समाप्त हो चुका है। इस के अन्तर्गत 204 किलोमीटर लम्बी फीडर, 189 किलोमीटर लंबी मुख्य नहर तथा 2960 किलोमीटर लम्बी वितरिकाओं का निर्माण कार्य सम्मिलित है। प्रथम चरण में पाँच प्रवाह शाखाएँ हैं तथा एक लिफ्ट शाखा है जो गंगा नगर के दक्षिणी तथा दक्षिणी पश्चिमी एवं बीकानेर के उत्तरी तथा उत्तरी पश्चिमी भाग में पानी पहुँचाती हैं। प्रथम चरण की अन्य विशेषताएँ सारणी 5.5 में उल्लिखित हैं। इस चरण में परियोजना नियोजन



चित्र 5.6 इंदिरा गांधी नहर कमांड क्षेत्र

सारणी 5.5

इन्दिरा गांधी नहर परियोजना के मुख्य लक्षण

लक्षण	इकाई	चरण-I	चरण-II	योग
1. मुख्य नहर की लम्बाई				
(i) इन्दिरा गांधी फीडर	कि. मी.	204	–	204
(ii) इन्दिरा गांधी मुख्य नहर	"	189	256	445
योग	"	393	256	649
2. वितरण तंत्र की लम्बाई	कि. मी.	2960	4800	7760
3. कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र				
(i) प्रवाह सिंचाई के अन्तर्गत	लाख हेक्टे.	4.79	7.0	11.79
(ii) लिफ्ट सिंचाई के अन्तर्गत	"	0.46	3.12	3.58
योग	लाख हेक्टे.	5.25	10.12	15.37
4. पूर्ण विकास के बाद सिंचाई क्षमता	लाख हेक्टे.	5.78	8.10	13.88
5. सिंचाई गहनता	प्रतिशत	110	80	90
6. जल की आवश्यकता	मिलियन एकड़ फीट	3.59	4.0	7.59
7. पीने तथा औद्योगिक उपयोग के लिए पानी का उपयोग	क्यूसेक्स	300	900	1200
8. लागत	करोड़ रू.	246	1420	1666
9. वार्षिक खाद्यान्न उत्पादन	लाख टन	14.50	22.50	37.0

में 110 प्रतिशत सिंचाई गहनता की व्यवस्था की गई है। सिंचाई गहनता कुल सिंचित क्षेत्र एवं परियोजना के कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र के बीच का अनुपात है जो प्रतिशत में व्यक्त किया गया है। प्रति 1000 एकड़ भूमि पर नियत की गई पानी की मात्रा कमांड क्षेत्र के इस भाग में अधिक है जो 5.23 क्यूसेक्स प्रति 1000 एकड़ हैं।

चरण - II

दूसरे चरण में निर्माण कार्य किया जा रहा है। वास्तविक योजना के अनुसार इसे 1978 में पूरा हो जाना चाहिए था। इस चरण में 256 किलोमीटर लम्बी मुख्य नहर एवं 4800 किलोमीटर लम्बी वितरिकाओं का निर्माण सम्मिलित है। इस परियोजना की सिंचाई योजना को कई बार संशोधित किया गया। अब इससे वृहत सिंचाई की योजना है। वृहत सिंचाई से तात्पर्य यह है कि प्रति हेक्टेयर पानी का नियतन कम किया जाय तथा उतने ही पानी से अधिक

क्षेत्रफल में सिंचाई की जाय। इस क्षेत्र की सिंचाई गहनता 80 प्रतिशत है। इसका तात्पर्य यह है कि कृषि योग्य कमाण्ड क्षेत्र के केवल 80 प्रतिशत भाग पर सिंचाई की जाएगी। प्रति 1000 एकड़ पानी का नियतन इस चरण में केवल 3.50 क्यूसेक्स है जो प्रथम चरण की अपेक्षा कम है।

इस क्षेत्र के लिए बृहत् सिंचाई की रूप रेखा तैयार करने के आधारभूत उद्देश्य - मरूस्थल में अधिकतम क्षेत्र में सिंचाई की सुविधा पहुँचाना, कम सिंचाई द्वारा फसलों का उत्पादन करना, जलाक्रांतता एवं मिट्टी की लवणता की रोक-थाम करना तथा अधिकतम लोगों को सिंचाई का लाभ पहुँचाना है। द्वितीय चरण में 3.66 लाख हेक्टेयर भूमि पर सिंचित चरागाहों के विकसित करने की योजना है। इस से पशुचारण करने वाले समुदायों को भी सिंचाई का लाभ मिलेगा जिससे वे पशुपालन का विकास कर सकते हैं, साथ ही घास के मैदान मरूस्थलीकरण को रोकने में सहायक होंगे।

कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम

कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम देश की मुख्य तथा मध्यम सिंचाई कमाण्ड क्षेत्रों के विकास के लिए एक समन्वित क्षेत्र विकास का उपागम है। इस का मुख्य लक्ष्य सिंचाई कमाण्ड क्षेत्र में उपलब्ध सिंचाई संभाव्यता तथा इस के उपयोग के अन्तर को कम करना है। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के प्रपत्र में देश की सभी मुख्य तथा मध्यम सिंचाई परियोजनाओं के कमाण्ड क्षेत्र में इस कार्यक्रम के लागू किए जाने पर जोर दिया गया था। इन्दिरा गाँधी कमाण्ड क्षेत्र में यह कार्यक्रम 1974 में लागू किया गया था। यह भारत की एक प्रमुख सिंचाई परियोजना है। अतः यहाँ कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम बहुत पहले ही लागू किया जा चुका है। इस कमाण्ड क्षेत्र में इस का महत्व और अधिक है क्योंकि यहाँ पानी के सक्षम उपयोग तथा आर्थिक एवं पारिस्थितिकीय विकास की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से अधिक हैं।

(i) बलुई मिट्टी में निकास के स्तर के नीचे पानी की हानि मार्ग में 30 से 50 प्रतिशत होती है। इससे पानी जैसे विरल संसाधन का पूरा उपयोग नहीं हो पाता। साथ ही इससे जलाक्रांतता एवं लवणता बढ़ने के कारण फसल उत्पादकता कम हो जाती है।

(ii) यह एक नया बसा क्षेत्र है अतः यहाँ सार्वजनिक सुविधाओं तथा अवसंरचनात्मक सुविधाओं के विकास एवं नये कृषि उपकरणों की आपूर्ति की आवश्यकता अधिक है।

(iii) वायु - अपरदन तथा मरूस्थलीकरण के कारण नहर तथा इसकी वितरिकाओं में गाद की बड़ी मात्रा जमा हो जाती है। इसके अतिरिक्त कृषि योग्य भूमि का अपरदन होता है।

इन्दिरा गाँधी नहर कमाण्ड क्षेत्र में कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य सम्पन्न किए जाने की योजना थी:

(i) कृषि विकास जिसके अन्तर्गत सर्वेक्षण एवं नियोजन, जल मार्गों को पक्का बनाना, भूमि को समतल करना तथा विघटित भूमि को समतल करके उस का पुनरूद्धार करना आदि सम्मिलित थे।

(ii)वनारोपण तथा चरागाह विकास जिसके अन्तर्गत नहरों एवं सड़कों के किनारे वृक्ष लगाना, अधिवासों के निकट खण्डों में वृक्षारोपण, बालुका - टीलों का स्थिरीकरण तथा कृषि योग्य बंजर भूमि पर चरागाहों का विकास करना सम्मिलित हैं।

(iii)परिवहन के साधनों एवं सार्वजनिक सुविधाओं का विकास करना जिसके अन्तर्गत सड़क निर्माण करना, अधिवासों को विपणन केन्द्रों से जोड़ना, नये विपणन केन्द्रों का विकास तथा पीने के पानी का प्रबन्ध करना आदि सम्मिलित हैं।

(iv) आधुनिक कृषि उपकरणों की आपूर्ति करना जिसमें उत्तम सुधरे बीजों की आपूर्ति, रसायनिक खाद, कीटनाशक दवाओं की आपूर्ति करना तथा किसानों को प्रशिक्षण एवं विस्तार सेवाओं को उपलब्ध कराना आदि सम्मिलित हैं।

कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन से सिंचाई के विस्तार, जल-उपयोग की क्षमता, कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि आदि में सहायता मिली है।

कृषि विकास

पश्चिमी राजस्थान में मिट्टी में आर्द्रता की कमी कृषि विकास में सदैव अवरोध पैदा करती रही हैं। किसान केवल **खरीफ** में ही फसल पैदा कर सकता है। बहुत बड़ा कृषि योग्य भू-भाग बंजर अथवा परती भूमि के रूप में अकृषित रह जाता है। सिंचाई के विस्तार से शुद्ध कृषित भूमि तथा कुल कृषि भूमि में वृद्धि हुई है जैसा कि सारणी 5.6 से स्पष्ट है।

सिंचाई के साधनों के विकास से पहले इस क्षेत्र की कुल कृषित भूमि के लगभग 90 प्रतिशत भाग पर सूखा को सहन करने वाली फसलें जैसे बाजरा, ग्वार, मूंग, मोठ तथा चना आदि बोई जाती थीं। सिंचाई के पानी के आ जाने के पश्चात इस क्षेत्र के फसल प्रारूप में बहुत परिवर्तन आया है जैसा कि सारणी 5.7 में दिखाया गया है। वाणिज्यिक फसलों जैसे कपास, मूंगफली, गेहूं तथा सरसों के क्षेत्रफल में तीव्रता से वृद्धि हुई है। नहर कमाण्ड क्षेत्र के प्रथम चरण की कुल कृषित भूमि के लगभग 65 प्रतिशत भाग पर ये फसलें बाई जाती हैं। नहर कमाण्ड क्षेत्र की कुल कृषित भूमि के लगभग एक चौथाई भाग पर 1984-85 में गेहूं बोया गया था तथा उसके पश्चात् कपास, सरसों तथा ग्वार का स्थान था। कमाण्ड क्षेत्र के निचले भाग में मूंगफली एक सिंचित फसल के रूप में तीव्रता से फैल रही है।

सारणी 5.8 से स्पष्ट है कि कृषि उत्पादन एवं प्रति हैक्टेयर उत्पादकता में भी तीव्रता से वृद्धि हुई है। कपास, मूंगफली, चावल, तथा गेहूँ की उत्पादकता उत्तरोत्तर बढ़ रही है। इसके विपरीत ग्वार, चना तथा सरसों की उत्पादकता में उतार-चढ़ाव देखने को मिलता है। इनकी उत्पादकता में उतार चढ़ाव का मुख्य कारण यह है कि वे पूर्ण रूप से सिंचित नहीं हैं। सारणी 5.9 से स्पष्ट है कि कमाण्ड क्षेत्र में फसलों के उत्पादन में भी आशातीत वृद्धि हुई है।

सारणी 5.6

इन्दिरा गांधी नहर कमाण्ड क्षेत्र - चरण - I

वर्ष	शुद्ध कृषित भूमि का कुल भौगोलिक क्षेत्र में अंश प्रतिशत में	शुद्ध कृषि भूमि में एक से अधिक बार बोई गई भूमि का अंश (प्रतिशत में)
1971-72	21.70	8.00
1972-73	22.32	9.89
1973-74	24.16	12.92
1974-75	26.67	14.57
1975-76	29.20	17.17
1976-77	20.48	16.18
1977-78	30.05	19.10
1978-79	31.52	22.20
1979-80	29.08	25.45
1980-81	32.85	32.25

सारणी 5.7

इन्दिरा गांधी नहर कमाण्ड क्षेत्र-प्रथम चरण
कुल कृषित भूमि मे कुछ चुनी हुई फसलो के क्षेत्रफल का अंश (प्रतिशत में):

फसलें	1974-75	1980-81	1984-85
कपास	9.08	19.51	19.16
ग्वार	15.29	17.80	16.21
मूंगफली	----	0.31	6.61
चावल	2.59	1.96	2.05
दलहन (खरीफ)	0.58	0.99	0.37
बाजरा	5.74	0.94	0.97
गन्ना	0.79	0.37	0.57
गेहूं	19.65	18.32	24.64
चना	26.24	26.50	10.75
सरसों	12.95	8.14	16.37

सारणी 5.8

इन्दिरा गांधी नहर कमाण्ड क्षेत्र — प्रथम चरण

कुछ चुनी हुई फसलों की उत्पादता का स्तर (किलोग्राम हेक्टेयर)

फसलें	1976-77	1981-82	1986-87
कपास	890	1015	1274
मूंगफली	अनु.	1465	1593
चावल	2987	3344	3500*
ग्वार	अनु.	957	746
गेहूं	1596	2038	2039
चना	972	647	564
सरसों	688	904	835

अनु.= अनुपलब्ध
* = उत्पादकता आंकड़े 1985-86 के हैं।

सारणी 5.9

इन्दिरा गांधी नहर कमाण्ड क्षेत्र — प्रथम चरण

कुछ चुनी हुई फसलों का उत्पादन (हज़ार मीट्रिक टन में)

फसलें	1976-77	1981-82	1986-87
कपास	29	81	132
मूंगफली	अनु	2	50
चावल	24	20	36
ग्वार	अनु.	63	43
गेहूं	113	181	250*
चना	67	64	53*
सरसों	10	27	54*

अनु.= अनुपलब्ध
* = 1985-86 के उत्पादकता के आंकड़े

सारणी 5.9 से स्पष्ट है कि कपास, गेहूँ तथा सरसों का उत्पादन बढ़ा है। इसका मुख्य कारण इनके क्षेत्रफल में एवं कुछ फसलों की उत्पादकता में वृद्धि है। सिंचाई संसाधनों के पूर्ण विकास के पश्चात् कमाण्ड क्षेत्र में लगभग 37 लाख टन खाद्यान्न पैदा होने की आशा है (प्रथम चरण में 14.5 लाख टन एवं द्वितीय चरण में 22.5 लाख टन)।

सिंचाई का पर्यावरण पर प्रभाव

सिंचाई से इस क्षेत्र की कृषि भू–दृश्यावली में परिवर्तन साफ परिलक्षित होता है तथा कृषि उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई है। प्रथम चरण के कमाण्ड क्षेत्र में भूमि - जल - स्तर में 0.8 मीटर प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हो रही है जो चिन्ता का विषय है। भूमिगत जल विभाग के एक अनुमान के अनुसार घग्घर बेसिन क्षेत्र के लगभग 25 प्रतिशत भाग की दशा जल स्तर के ऊपर आ जाने से शोचनीय हो गई है। यदि इसे रोकने के उपाय न किए गये तो इस शताब्दी के अन्त तक लगभग 50 प्रतिशत भाग की दशा बिगड़ने की संभावना है। मिट्टी में नमक की मात्रा अधिक होने एवं जलाक्रांतता के कारण कमाण्ड क्षेत्र के प्रथम चरण की मिट्टी में लवणता का प्रकोप बढ़ गया है। इसके कारण मिट्टी की उर्वरता तथा कृषि उत्पादन पर कुप्रभाव पड़ा है। यह समस्या द्वितीय चरण कमाण्ड क्षेत्र में अधिक शोचनीय होने की आशंका है। क्योंकि कमाण्ड क्षेत्र के इस भाग में भूमि के कुछ ही मीटर नीचे कंकड़ के स्तर हैं जो प्रवाह को अवरूद्ध कर जलाक्रांतता को प्रोत्साहन देते हैं।

ग्रामीण पुनर्निर्माण

6. आनन्द डेयरी सहकारी समिति

पशुपालन भारतीय कृषि का अभिन्न अंग है क्योंकि यह ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर वर्गों के लोगों विशेषतः छोटे तथा सीमान्त किसानों एवं भूमिहीन कृषि मजदूरों को रोजगार के अवसर प्रदान करता है। राष्ट्रीय कृषि आयोग के अनुसार, "फसल उत्पादन के बाद, पशुपालन से सम्बद्ध कार्यक्रम रोजगार के सब से अधिक अवसर प्रदान करने की क्षमता रखते हैं।" पशुपालन विकास कार्यक्रम श्रम-गहन हैं तथा लोगों को गाँव के भीतर ही रोजगार प्रदान करते हैं जिसमें परिवार के बच्चों तथा स्त्रियों का भी सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

'अमूल' (आनन्द मिल्क यूनियन लिमिटेड) वह संज्ञा है जो खेड़ा जिला सहकारी दुग्ध उत्पादक यूनियन, आनन्द ने ग्रहण कर लिया है। अमूल की कहानी, किसानों के सक्रिय सहयोग एवं सहभागिता पर आधारित दुग्ध सहकारी समिति के गठन, संचालन एवं प्रबन्ध की कहानी है। दिसम्बर, 1946 में गोपालपुर एवं मद्गुर में दुग्ध सहकारी समिति की स्थापना के बाद ही अमूल का अनुभव प्रारम्भ होता है। दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति के गठन का विचार खेड़ा जिले के किसानों द्वारा रखा गया। ये अपना दूध गाँव में दूध के ठेकेदारों को बेचा करते थे जो इस दूध को बम्बई में पाल्सन कम्पनी को बेचते थे। पाल्सन कम्पनी एवं राज्य सरकार के मध्य एक समझौते के अन्तर्गत बम्बई दुग्ध योजना को तरल दुग्ध की आपूर्ति करने का ठेका पाल्सन कम्पनी का था। दूध का दाम निर्धारित नहीं था। अतः उनमें अत्याधिक

उतार-चढ़ाव आया करता था। इस प्रकार बिचौलियों को किसानों की अपेक्षा अधिक लाभ होता था। सरदार पटेल की सक्रिय सहायता से दुग्ध उत्पादकों को शोषण से बचाने के लिए दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति का गठन किया गया।

खेड़ा जिला दुग्ध उत्पादक संघ की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसका गठन किसानों द्वारा किया गया तथा बिना सरकार की सहायता लिए यह विकास करता रहा। इसके संचालकों ने आत्म-निर्भरता का मार्ग अपनाया था। यह संघ सीधे बम्बई दुग्ध योजना को दूध बेचता था। बम्बई दुग्ध योजना दूध की कमी को दुग्ध पाउडर से पूरी करती थी तथा अधिक दूध के उत्पादन के मौसम में दूध लेने से इन्कार भी कर देती थी। इस स्थिति से निपटने के लिए संघ ने दुग्ध पाउडर तथा मक्खन बनाने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार इस सदी के पांचवें दशक में अमूल डेयरी उत्पाद बाजार में प्रवेश कर गये।

उद्‌देश्य

आनन्द दुग्ध सहकारी संघ का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण दुग्ध उत्पादक को नगरीय उपभोक्ता से जोड़ना तथा उनके सक्रिय सहभागिता द्वारा दुग्ध उत्पादकों को अधिकतम लाभ दिलवाना है। दुग्ध उत्पादक अपने चुने हुए प्रतिनिधियों एवं दक्ष कार्यकर्ताओं की सहायता से इस संघ का प्रबन्ध करते हैं। अतः यह कार्यक्रम उत्पादक-उन्मुख कार्यक्रम है। आनन्द विकास मॉडल की प्रमुख विशेषता प्रबन्ध एवं निर्णयों में स्थानीय लोगों की सक्रिय सहभागिता है। यहाँ के ग्रामीण अपनी समस्याओं, आवश्यकताओं तथा क्षमताओं से भली-भांति अवगत हैं।

प्रत्येक दुग्ध उत्पादक को अधिकतम् लाभ दिलाने के लिए ही सहकारी संघ का गठन किया गया। एक व्यक्ति की अपेक्षा सहकारी समिति में नये तकनीकों को पाने के लिए पूंजी-निवेश की क्षमता अधिक होती है। यही कारण है कि आनन्द में दुग्ध प्रक्रमण की आधुनिक मशीनें लगाई जा सकी हैं। विपणन के आधुनिक तकनीकों का प्रयोग कर दूध तथा दुग्ध उत्पादों की मांग को पूरा किया गया। आनन्द जैसे सहकारी संघ की सफलता इस बात में भी देखी जा सकती है कि अच्छे सहकारी संघ निजी व्यापार से प्रतिस्पर्द्धा अधिक क्षमता से करते हैं। गरीब से गरीब दुग्ध उत्पादक की सहभागिता से आत्म-विश्वास एवं पारस्परिक विश्वास का जन्म होता है।

संरचना

अमूल की संरचना तीन स्तरीय है: सबसे निम्न स्तर अर्थात ग्राम स्तर पर ग्राम दुग्ध उत्पादक सहकारी संघ काम करता है जो द्वितीय स्तर पर जिले के संघ से जुड़ा होता है। तृतीय स्तर पर विभिन्न जिला सहकारी संघ, सहकारी दुग्ध विपणन संघ बनाते हैं। ग्राम दुग्ध उत्पादक संघ के सदस्य वे सभी ग्रामवासी होते हैं जिनके पास दुधारू पशु होते हैं। इसमें वे किसान भी सम्मिलित हैं जो धाणियों में रहते हैं। ये सहकारी संघ को दूध बेचने के लिए वचनबद्ध होते हैं। प्रत्येक परिवार दो शेयर खरीद सकता है। दूध दिन में दो बार एकत्रित किया जाता है। इस दूध का दाम चिकनाई के आधार पर प्रतिदिन किसान को दे दिया जाता है। प्रतिदिन दाम मिल जाने से किसान चारा खरीद सकता है जो सहकारी समिति बेचती है।

कार्यकारिणी समिति के नौ सदस्य होते हैं जो तीन वर्षों के लिए निर्वाचित होते हैं। कार्यकारिणी समिति प्रत्येक वर्ष एक अध्यक्ष निर्वाचित करती है। कार्यकारिणी की बैठक प्रत्येक महीने होती हैं तथा साधारण सभा की बैठक वर्ष में एक बार की जाती है जो लेखा एवं वर्ष भर की गतिविधियों के ब्योरे को पास करती है। कार्यकारिणी समिति एक सचिव एवं अन्य कर्मियों को नियुक्त करती है। प्रत्येक गांव की समिति का कार्य प्रतिरूप एक जैसा ही होता है। ग्राम सहकारी समिति मूलभूत सेवाएँ जैसे प्राथमिक उपचार, दक्ष कृत्रिम गर्भाधान-कर्मी, पशुओं के चारे तथा चारे के बीज आदि की व्यवस्था भी करती है जिससे कि सदस्यों को दुग्ध उत्पादन में सहायता मिले।

जिला दुग्ध उत्पादक सहकारी संघ सभी ग्राम सहकारी समितियों से मिलकर बनता है जो इसके सदस्य होते हैं। यह संघ दूध खरीदने, इसके प्रक्रमण तथा विपणन के लिए उत्तरदायी होते हैं। यह तकनीकी सेवायें भी उपलब्ध कराता है जैसे साप्ताहिक पशु सेवाएं, चारे के बीज, औजार एवं उपकरण, पशु-चारा तथा कर्मचारियों का प्रशिक्षण आदि। यह दुग्ध के प्रक्रमण के लिए डेयरी संयत्र स्थापित करता है। प्रत्येक संघ का अपना पशु-आहार बनाने का संयत्र होता है जो सन्तुलित पशु आहार का विनिर्माण कर उसकी आपूर्ति विभिन्न सहकारी समितियों को करता है। सहकारी समितियों के सदस्यों के लिए यह निःशुल्क पशु चिकित्सा सेवाओं का प्रबन्ध करता है। जिला संघों में उन्नीस निदेशक होते हैं। इनमें से 12 का चुनाव विभिन्न ग्राम सहकारी समितिया करती हैं। 7 निदेशक सरकार तथा अन्य हित-वर्गों द्वारा मनोनीत होते हैं। बोर्ड अपने अध्यक्ष का चयन करता है। संघ बहुत से कर्मियों की नियुक्ति भी करता है जिसका प्रमुख मैनेजिंग डाइरेक्टर होता है।

गुजरात राज्य में सहकारी संघों की संख्या में वृद्धि के कारण 1974 में 6 संघों ने मिलकर तीसरे स्तर के सहकारी संघ का गठन किया जिसे गुजरात सहकारी दुग्ध विपणन संघ की संज्ञा दी गई। इसका मुख्य कार्य केन्द्रीकृत विपणन, गुणवत्ता का नियंत्रण तथा दुग्ध का क्रय हैं। इसका मुख्य ध्येय प्राथमिक उत्पादक को अधिकतम लाभ दिलाना है। तीनों स्तर की संरचना में आन्तरिक कड़ी विद्यमान है क्योंकि सभी प्राथमिक सहकारी समितियां अपने प्रतिनिधि जिला संघों एवं राज्य संघ के बोर्डों में भेजती हैं। फेडरेशन के बोर्ड का गठन सभी संघों के निर्वाचित अध्यक्षों एवं सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों द्वारा गठित होता है। इस प्रकार 1946 में दो सहकारी समितियों के गठन से 1974 में राज्य स्तर के फेडेरेशन के गठन तक का इतिहास डेयरी सेक्टर में सहकारिता आन्दोलन की सफलता का इतिहास है।

निष्पादन

खेड़ा जिला संघ ने सफलतापूर्वक अपना विस्तार किया है तथा इसकी आशातीत वृद्धि भी हुई है। 1946 में इसके गठन का प्रारम्भ दो प्राथमिक सहकारी समितियों के गठन के साथ हुआ था तथा केवल 200 लिटर दूध प्रतिदिन एकत्रित किया जाता था। परन्तु अब इसमें 900 सोसाइटियां हैं और लगभग 800,000 लिटर दूध प्रतिदिन एकत्रित किया जाता है।

सारणी 5.10 खेड़ा जिला सहकारी दुग्ध उत्पादक संघ की सफलता की एक झलक प्रस्तुत करती है।

सारणी 5.10

खेड़ा जिला सहकारी दुग्ध उत्पादक संघ का निष्पादन

वर्ष	सोसाइटियों की संख्या	सोसाइटी के कृषक सदस्यों की संख्या	सोसाइटियों से एकत्रित दूध की मात्रा (किग्रा)	चल पशु चिकित्सालयों की संख्या
1949-50	27	1995	2,728,358	–
1955-56	64	22,828	11,148,424	–
1961-62	219	44,000	14,179,782	12
1965-66	518	110,000	65,905,00	12
1970-71	706	180,000	118,225,000	16
1975-76	829	250,000	129,225,000	23
1980-81	895	327,000	169,600,000	23
1983-84	880	359,000	182,022,754	18

स्रोत 1. मार्टिन डूर्नवास आदि, डेयरी एंड डेब्लपमेंट, सेज पब्लिकेशन्सए 1990, पृष्ठ 198
2. मैस्क्रेन्हास, आर.सी., ए स्ट्रैटेजी फॉर रूरल डेब्लपमेंट, सेज पब्लिकेशन्स, 1988, पृष्ठ 73-76

आनन्द दुग्ध सहकारिता का प्रमुख योगदान एक कृषि प्रधान क्षेत्र में आर्थिक विकास, सामाजिक संगता तथा प्रौद्योगिकी के विकास से देखा जा सकता है। प्रत्येक गाँव इस से प्रभावित हुआ है और साथ ही साथ प्रत्येक किसान पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। आनन्द की अपनी कुछ भौगोलिक विशेषतायें भी हैं। यह बम्बई तथा अहमदाबाद जैसे दो बड़े बाजारों के निकट स्थित हैं। इन बाज़ारों में दुग्ध तथा दुग्ध उत्पादों की भारी मांग है। खेड़ा में कपास की अधिक पैदावार होती है तथा कपास का बिनौला दुधारू पशुओं के लिए बहुत पोषक आहार है।

आनन्द डेयरी सहकारिता की सफलता से प्रेरित होकर राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड का गठन किया गया है। आपरेशन फ्लड 1 तथा 2 के द्वारा व्यवसाय को ग्रामीण-विकास की एक युक्ति के रूप में विसरित किया जा रहा है।

7. तराई क्षेत्र में भू-उद्धार

तराई वास्तव में पश्चिम में रामगंगा तथा पूर्व में तिस्ता नदी के मध्य स्थित लगभग 26 किलोमीटर चौड़ी एक पट्टी को कहते हैं। यह 27^0 7´ से 29^0 30´ उत्तरी अक्षांश तथा 78^0 38´ से 83^0 57´ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित हैं। यह क्षेत्र लगभग 600 किलोमीटर लम्बाई तथा 25.6 किलोमीटर चौड़ाई में विस्तृत हैं। इसका क्षेत्रफल 15,889 वर्ग किलोमीटर है। उत्तर प्रदेश में तराई क्षेत्र की उत्तरी सीमा रेखा पीलीभीत से गोरखपुर जिले तक हिन्द-नेपाल अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा के साथ साथ स्थित है। इस की दक्षिणी सीमा पडरौना तहसील (देवरिया) एवं महाराज गंज तथा फरेंदा तहसील (गोरखपुर) के उत्तरी भाग से गुजरती है।

पश्चिम की ओर यह बहराइच जिले के भींगा परगना में राप्ती नदी के मार्ग तक विस्तृत है, और पश्चिम में यह खीरी जिले की नानपारा तहसील तथा पीलीभीत जिले की पूरमपुर एवं पीलीभीत तहसीलों तक विस्तृत है। भाबर एवं तराई की एक पट्टी सहारनपुर से रामपुर तथा नैनीताल तक फैली हुई पाई जाती है। भाबर हिमालय से निकलने वाली नदियों द्वारा निक्षेपित उन कंकरीले एवं अवर्गीकृत अवसादों को कहते हैं जो पंखे एवं टैलस शंकु के रूप में पाये जाते हैं तथा अब आपस में संलीन हो गये हैं। इस पट्टी में नदियाँ भूमिगत हो जाती हैं एवं तराई क्षेत्र में पुनः धरातल पर उभरती हैं। अतः तराई एक दलदली भू-दृश्यावली प्रस्तुत करता है क्योंकि यह अवस्रवण का क्षेत्र है। इसमें नदियों द्वारा बारीक बालू, गाद तथा चीका मिट्टी का निक्षेपण किया जाता है। यह एक निम्नभूमि का मैदानी भाग है जिसमें छोटी-छोटी नदियाँ, नाले एवं दलदल फैले हुए हैं। गण्डक, घाघरा तथा गोमती नदियाँ तराई क्षेत्र से ही निकलती हैं।

तराई क्षेत्र अपने अस्वास्थ्यकर जलवायु के लिये जाना जाता रहा हैं। यहाँ की जलवायु की प्रमुख विशेषता गर्मी तथा उच्च आर्द्रता है विशेषतः वर्षा ऋतु में यह अधिक दुःखदायी होती है। उच्च आर्द्रता तथा उच्च तापमान के कारण यह कीड़े मकोड़ों का प्रजनन क्षेत्र बन गया है।

एक समय में तराई क्षेत्र मलेरिया का पर्याय था तथा लोग यहाँ आने से डरते थे। तापक्रम जाड़ों में 8^0 सेल्सियस से गर्मियों में 40^0 सेल्सियस के बीच पाया जाता है। गर्मियाँ बहुत कष्ट दायक होती हैं। वर्षा की मात्रा 1300 मिलीमीटर से 2,500 मिलीमीटर के मध्य पाई जाती है तथा इस से बाढ़ का प्रकोप बढ़ जाता है।

इस क्षेत्र की मिट्टी में ह्यूमस की मात्रा अधिक है। यहाँ पहले उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र पर्णपाती वनों की अधिकता थी। अपनी संरचना एवं वृद्धि, दोनों ही दृष्टिकोणों से ये वन समृद्ध रहे हैं। शीशम, सेमल, कत्था, काला सिरस तथा साल के वृक्ष महत्वपूर्ण वृक्ष-प्रजातियाँ हैं।

तराई क्षेत्र अक्षत भूमि का एक क्षेत्र रहा है। थारू एवं बोक्सा लोगों की विरल जनसंख्या वानिकी एवं पशुपालन पर निर्भर थी। अभी बहुत निकट भूतकाल में भी यह एक वन-पारिस्थितिकी तंत्र का क्षेत्र था। स्वतंत्रता के तुरन्त बाद देश को दो समस्याओं का सामना करना पड़ा यथा, खाद्यान्नों की कमी तथा पाकिस्तान से विस्थापित शरणार्थियों का पुनर्वास। खाद्यान्नों की उपज की मात्रा बढ़ाने के लिए शुद्ध कृषित भूमि के क्षेत्रफल को बढ़ाना आवश्यक था। तराई क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें कृषित भूमि के क्षेत्रफल को बढ़ाने की संभावनाएं थीं। इस प्रकार 4 जनवरी 1948 को बुलडोज़रों का पहला दस्ता वनों को साफ करने तथा भूमि-उद्धार करने इस क्षेत्र में पहुंचा। 110,000 एकड़ जमीन का उद्धार कर भूमिहीनों एवं पाकिस्तान से आये विस्थापियों को भूमि का आवंटन किया गया।

मिट्टी का उर्वरता, पानी की उपलब्धता तथा प्रवासी किसानों में नवोन्मेष की क्षमता से गहन कृषि द्वारा इस क्षेत्र का रूपान्तरण किया गया। गेहूं, चावल, गन्ना तथा तिलहन इस क्षेत्र की प्रमुख फसलें हैं। आधुनिक तकनीकों के प्रयोग से यहां के किसान ने फसलों की प्रति हेक्टेयर उपज बढ़ाई। वंही क्षेत्र जो एक समय भयावह था अब विभिन्न आर्थिक क्रियाओं से गुंजित हो गया है। तराई क्षेत्र

में प्रारम्भ की गई विकास की प्रक्रियाएँ समस्याओं से रहित नहीं हैं। कृषित भूमि के विस्तार से वनों का ह्रास हुआ है; मृदा अपरदन बढ़ा है, बाढ़ अधिक आने लगी है तथा बहुत सी जंगली कृषिजोपजातियां नष्ट हो गई हैं। फलतः अब यहाँ संरक्षण की विधियों का आविर्भाव करना पड़ा। केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की विभिन्न परियोजनाओं के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर वनारोपण किया जा रहा है। रेल एवं सड़क मार्गों तथा नहरों के साथ-साथ वनों के गलियारे लगाये जा रहे हैं। सामुदायिक वनारोपण, फार्म वानिकी, तथा उन्नत चूल्हे जैसी लकड़ी को बचाने की परियोजनायें चलाई जा रही हैं।

8. हिमाचल प्रदेश के सेब-उद्यान

ऐसा विश्वास किया जाता है कि हिमाचल प्रदेश में फलों की खेती 19 वीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों द्वारा फैलाई गई। सेब के उद्यानों का विकास हाल ही की परिघटना है। कैप्टन एन.ली ने सर्वप्रथम कुल्लू जिले में एक सेब उद्यान लगाया तथा श्री सत्यानन्द स्टोक्स ने शिमला जिले में सेब के उद्यान का शुभारम्भ किया।

सेब शीतोष्ण कटिबन्ध की फसल है। इसके उद्यान पहाड़ी ढालों पर लगाये जाते हैं, जिससे वायु प्रवाह द्वारा तापक्रम की विलोमता के कारण पड़ने वाले पाले से इसे बचाया जा सके। हिमाचल प्रदेश के सेब पैदा करने वाले दो प्रमुख जिले कुल्लू तथा शिमला हैं। शिमला की पहाड़ियों पर लगाई जाने वाली सेब की प्रमुख किस्में "रेड डेलिशस" "जौनाथन", "ब्यूटी आफ बाथ", "रोम ब्यूटी", "अरली शानबरी", तथा "रेड अस्त्राखान" हैं। कुल्लू घाटी की प्रमुख किस्में "बेन डेविस", "गोल्डेन डेलिशस रेड" तथा "बाल्डविन" आदि हैं। इन दो जिलों से हिमाचल प्रदेश में सेब के कुल उत्पादन का 80 प्रतिशत प्राप्त किया जाता है। 1986 में हिमाचल प्रदेश में 357 हजार टन सेब का उत्पादन किया गया जो राज्य में कुल फल उत्पादन का 90.6 प्रतिशत है। सेब के उद्यान 51.1 हजार हेक्टेयर पर फैले हुए हैं जो फलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल का 40 प्रतिशत हैं।

सेब के उद्यानों का आविर्भाव हिमाचल प्रदेश में कृषि विकास के एक आयाम का द्योतक है। हिमाचल प्रदेश में गेहूँ, मोटे अनाज़ जैसे ज्वार-बाजरा तथा कुछ दालों का उत्पादन किया जाता है। मोटे अनाज कम मूल्य की फसलें हैं। कम मूल्य की फसलों को अधिक मूल्यवान फसलों द्वारा स्थानापन्न करना कृषि विकास की एक महत्वपूर्ण विधि है। सेब के उद्यानों ने वास्तव में मोटे अनाज की फसलों को स्थानापन्न किया है तथा इसी क्षेत्र पर लगाये गये हैं जहाँ पहले ये अनाज पैदा किएँ जाते थे।

सेब एक पोषक फल है। इसकी माँग नगरों में अधिक है। इसके उत्पादन से किसानों की आमदनी बढ़ी है। इसके अतिरिक्त सेब तोड़ने, पैकिंग करने तथा इसके प्रक्रमण में रोजगार के अवसर भी उपलब्ध हुए हैं। सेब के उद्यान बड़े तथा छोटे सभी वर्ग के किसानों ने लगाए हैं।

सेब किसी भी अन्य अपरिरक्षित फल की भांति नाशवान वस्तु है, अतः इसे बिना समय लगाये जल्दी से बाजार पहुंचाना आवश्यक होता है। सेब के विपणन के छः मार्ग उपलब्ध हैं, जैसे ठेकेदार, कमीशन एजेन्ट, थोक व्यापारी, सहकारी समितियां, हिमाचल प्रदेश मार्केटिंग कारपोरेशन

(एच.पी.एम.सी.), प्रक्रमण करने वाली इकाइयाँ तथा उपभोक्ता। रेलवे जंक्शनों पर आपने एच.पी.एम.सी. के सेब के रस के स्टाल तो देखे होंगे। यह पाया गया है कि सेब उगाने वाले किसान ठेकेदारों एवं कमीशन एजेन्टों के माध्यम से अपना सेब बेचते हैं। सेबों के विपणन के मार्गों के एक अध्ययन से यह पता चला है कि अधिकांश सेब उगाने वाले किसान कमीशन एजेन्ट के माध्यम से सेब बेचते हैं। बहुत कम किसान सहकारी समितियों या एच.पी.एम.सी. को अपना सेब बेचते हैं।

फलोद्यानों के विकास से हिमाचल प्रदेश के किसानों की आमदनी में वृद्धि हुई है। इससे इन उद्यानों में काम करने वाले मजदूर भी लाभान्वित हुए हैं क्योंकि उन्हें बढ़े हुए दर पर मज़दूरी मिल रही है।

अभ्यास

समीक्षा प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर लिखिए।

(i) 'क्षेत्र' क्या है ?

(ii) "विकास" से आप क्या समझते हैं ?

(iii) योजना आयोग द्वारा निर्धारित कृषि-जलवायु क्षेत्रों के नाम लिखिए।

(iv) भारत में बहुस्तरीय नियोजन क्यों आवश्यक है ?

(v) दामोदर घाटी कारपोरेशन के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ?

(vi) जन जातीय क्षेत्रों में विकास कार्यक्रम इच्छित परिणाम क्यों नहीं ला सके?

(vii) राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र अथवा बम्बई मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र के मुख्य लक्षणों की व्याख्या कीजिए।

(viii) पश्चिमी राजस्थान में इन्दिरा गांधी नहर द्वारा क्या परिवर्तन लाये गये हैं ?

(ix) अमूल डेयरी की सफलता के क्या कारण हैं ?

(x) "तराई क्षेत्र में भूमि-उद्धार से आर्थिक विकास तो हुआ है, परन्तु पारिस्थितिकी पर कुप्रभाव पड़ा।" अपने विचार व्यक्त कीजिए।

2. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

(i) "नीचे से नियोजन।"

(ii) स्थानीय नियोजन के लिए विकास खण्ड एक प्राथमिक इकाई।

(iii) दामोदर घाटी निगम क्षेत्र में खनिज संसाधन।

(iv) आपरेशन फ्लड।

(v) हिमाचल प्रदेश में सेब के उद्यान।

मानचित्र कार्य :

(i) दामोदर घाटी कारपोरेशन क्षेत्र का एक मानचित्र बनाइए तथा उस पर बाँधों की अवस्थिति अंकित कीजिए।

(ii) राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का मानचित्र बनाइए तथा उस पर सेटलाइट नगर दर्शाइए।

(iii) बम्बई मेट्रोपॉलिटिन क्षेत्र का एक मानचित्र बनाइए तथा उस पर नये औद्योगिक एस्टेट दिखाइए।

क्रिया - कलाप

(i) किसी विकास खण्ड के दफ्तर में जाइए तथा विकास खण्ड अधिकारी से इन कार्यों के बारे में पूछताछ कीजिये।

(ii) किसी एक पंचायत समिति के दफ्तर में जाइये तथा इसके कार्यों से अपने को अवगत कराइये।